

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182879

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 81-092

Accession No.

M 67 B

Author

मिश्र, विवनाथ प्रसाद

Title

बिहारी की वाग्विभूति

This book should be returned on or before the date last marked below.

उपक्रम

बिहारो की सतसई की पढ़ाई कई परीक्षाओं में हो रही थी, पर उनकी विशेषताओं का उद्घाटन करनेवाला कोई आलोचनात्मक ग्रंथ नहीं था। यों तो बिहारी पर बहुत-से प्रशंसात्मक लेख निकले और उनको लेकर हिंदी में भारी अंधड़ उठ खड़ा हुआ, पर शुद्ध-आलोचनात्मक ग्रंथ कोई नहीं लिखा गया। तुलनात्मक समीक्षा की सरणि पर दो पुस्तकें अवश्य प्रस्तुत हुई—एक स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा की 'बिहारी-सतसई की भूमिका' और दूसरे पं० कृष्णबिहारी मिश्र बी० ए०, एल-एल० बी० का 'देव और बिहारी'। इन पुस्तकों में भी बिहारी की विशेषताओं का सम्यग् निरूपण नहीं है, केवल तुलना-मूलक समीक्षा का ही जोर है। स्वर्गीय लाला भगवानदीनजी ने भी एक छोटी-सी पुस्तिका 'बिहारी और देव' नाम से निकाली थी, पर उसमें बिहारी और देव की बड़ाई-छोटाई की ही नाप-जोख है और वह इसी ऋगड़े को लेकर लिखे गए लेखों का संप्रह मात्र है।

किसी कवि की शुद्ध समीक्षा में जीवन-वृत्त उतना उपयोगी नहीं होता, पर जानकारी के लिए एक संक्षिप्त जीवनी इस पुस्तक के आरंभ में जोड़ दी गई है। इस जीवनी के लिखने में हमें विशेष सहायता स्वर्गीय बा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' बी० ए० के उस लेख से मिली है जो 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' के आठवें भाग में निकला था। बिहारी के जीवन को घटनाओं के

संबंध में जो बहुत-सी बातें ज्ञात हुई हैं उनका विस्तार इस पुस्तक में नहीं किया गया है । यदि आवश्यकता पड़ेगी तो उसपर फिर कभी विचार किया जायगा । किंतु यहाँ पर केवल एक बात का उल्लेख किया जाता है, जिसपर हिंदी-साहित्य के इतिहास से अभिरुचि रखनेवाले विद्वानों को विचार करना चाहिए । स्वर्गीय वा० राधाकृष्णदास ने एक लेख लिखकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि बिहारी के पिता प्रसिद्ध कवि केशवदास थे । रत्नाकरजी ने भी अपने लेख में यह बात पूर्णतया तो नहीं, पर अंशतः स्वीकार की है । ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में उन्होंने केशवदासजी को पिता न मानकर गुरु मान लिया है और इस संबंध में अनुसंधान करनेवालों का आह्वान किया है ।

बिहारी के पिता कोई प्रसिद्ध केशव कवि थे, इसमें तो संदेह नहीं । बिहारी के जिस दोहे की टीका में कृष्णलाल ने पिता और श्रीकृष्ण की युगपत् वंदनावाली बात लिखी है, उससे तो उक्त केशव के कवि होने का समर्थन उतना अधिक नहीं हो सकता, क्योंकि पिता की वंदना बिना कवि हुए भी कोई कर सकता है । किंतु बिहारी के भानजे कुलपति मिश्र ने अपने 'संग्राम-सार' के मंगलाचरण में जिस प्रकार अपने नाना का स्मरण किया है उससे यह स्पष्ट है कि वे कोई प्रसिद्ध कवि अवश्य थे । ग्रंथ के आरंभ में एक तो नाना की वंदना करने का कोई प्रचलन नहीं, दूसरे वे कम से कम यदि ऐसा किसी विशेष कारण से करते भी तो उन्हें 'कविवर' की उपाधि कभी न देते ।

सं० १८६१ में असनी के ठाकुर कवि ने अपने आश्रयदाता काशीनिवासी देवकीनंदन के नाम पर 'सतसैया-वर्णार्थ' नामक

टीका लिखी है। इस टीका में बिहारी का विस्तृत वृत्तांत भी लिखा गया है। इन्होंने बिहारी-सतसई के संबंध में लिखा है कि यह बिहारी की लिखी हुई न होकर उनकी पत्नी की बनाई हुई है। उन्होंने 'बीरबली' लतीफे के ढंग की एक कथा भी दी है। जिसका सारांश इस प्रकार है—

“बिहारी की पत्नी बड़ी कवियित्री थी। बिहारो जयपुर में एक साधारण ब्राह्मण की भौंति वृत्ति पाया करते थे। एक बार जब वे जयपुर अपनी वृत्ति लेने के लिए गए तो महाराज को नयो ब्याह लायी हुई रानी के प्रेम में पड़ा हुआ पाया। इसीलिए वे महलों से कभी दरबार में नहीं आते थे। बेचारे को लौट आना पड़ा। बिहारो ने यह समाचार अपनी पत्नी को सुनाया। उसने तुरंत “नहिं पराग नहिं मधुर मधु” (३८) दोहा बनाकर उन्हें फिर जयपुर भेजा। जब उक्त दोहा महाराज के पास पहुँचा तो वे मइल्-से बाहर निकले और बिहारी को ‘अँजुरो भर’ मोहरें दीं। साथ ही उन्होंने कहा कि इसी प्रकार के दोहे यदि बना लाया करो तो तुम्हें प्रति दोहा एक मोहर मिलेगी। बिहारो ने पत्नी से यह समाचार आ सुनाया। पत्नी ने १४०० दोहे बनाए और १४०० मोहरें प्राप्त कीं। उन्हीं चौदह सौ दोहों में से छोटकर सौ दोहों की सतसई तैयार की गई। इस सतसई को लेकर पत्नी के आज्ञानुसार बिहारो छत्रसाल महाराज के दरबार में पहुँचे। सतसई उन्हें दिखाई गई। उन्होंने उसकी जाँच के लिए उसे अपने धार्मिक गुरु प्राणनाथजी को दे दिया। प्राणनाथजी साधु थे, इसलिए शृंगार की कविता को उन्होंने घृणोत्पादक कहा। बेचारे बिहारी अपना-सा मुँह लेकर लौट आए। पर उनकी पत्नीजी कब चूकनेवाली थीं।

उन्होंने बिहारी को फिर उन्हीं पैरों लौटाया और कहा कि महाराज से जाकर कहना कि पत्रा में युगुलकिशोरजी के मंदिर में प्राणनाथजी की कविता और सतसई रात में रखी जाय । जिसपर भगवान् के हस्ताक्षर हो जायें वही प्रामाणिक मानी जाय । ऐसा ही किया गया । बिहारी-सतसई पर ही हस्ताक्षर हुए । इधर बिहारी चुपके-से उड़ आए, आकर पत्नी को सब समाचार सुनाए । महाराज ने खोज कराई तो कुछ भी पता न लगा । तब बिहारी के यहाँ पत्र भेजवाया । पत्र के उत्तर में पत्नी ने ये दोहे लिख भेजे—

तौ अनेक औगुन-भरिहिं चाहै याहि बलाइ ।

जौ पति संपतिहूँ बिना जदुपति राखे जाय ॥

दूर भजत प्रभु पीठि दै गुन-बिस्तारन-काल ।

प्र गटत निर्गुन निकट ही चंग-रंग गोपाल ॥

दूसरा दोहा प्राणनाथजी के पत्र के उत्तर में था । महाराज ने यह उत्तर पढ़ा तो बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने बिहारी को बहुत-से ग्राम दिए ।”

इस ‘बीरबली’ लतीफे से केवल इतना ही सिद्ध हो सकता है कि बिहारी की स्त्री भी कविता किया करती थी । पर इसकी सब बातें प्रामाणिक नहीं हैं, इतिहास से किसी का प्रमाण नहीं मिलता और परंपरा में यह कथा सिवा उस टीका के और कहीं सुनी भी नहीं गई । भाटों के वाग्जाल में कहाँ तक विश्वास किया जाय ! पर हिंदी में कुछ लोग इसी कथा के आधार पर और नहीं तो इतना अवश्य मानने लगे हैं कि बिहारी ने बहुत-से दोहे बनाए थे, उनमें से और तो नष्ट कर दिए केवल चुने हुए सात सौ दोहे रख लिए । यदि ऐसा न होता तो बिहारी की इतनी उत्तम

कविता न होती आदि आदि । लोग चाहे जो अनुमान लड़ावें, पर इस कथा में कोई विशेष तथ्य है नहीं । बिहारी की पत्नी भी कविता किया करती थी, इसके अतिरिक्त अधिक दूर तक जाना व्यर्थ ही भ्रम फैलाना है ।

बिहारी की पत्नी यदि अपने नाम से प्रसिद्ध न हो, तो अपने पति के नाम से और यदि कहीं ससुर भी अच्छा कवि हुआ तो ससुर के नाम से प्रसिद्ध हो सकती है । मिश्रबन्धु-विनोद में 'केशव-पुत्रवधू' नाम से एक कवियित्री का उल्लेख है । किसी के नाम से पुत्रवधू तभी प्रसिद्ध हो सकती है जब वह स्वयं कोई अच्छा कवि हो । इसलिए ये कोई प्रसिद्ध केशव रहे होंगे । इसका समय भी बिहारी के समय से मिलता है इसलिए यह भी माना जा सकता है कि संभवतः वह बिहारी की ही पत्नी हो । यह भी कहा जाता है कि केशवदासजी की जीवनी के संबंध में जो यह प्रसिद्धि है कि उन्हें अपनी पुत्रवधू के ही कारण 'विज्ञान-गीता' की रचना करनी पड़ी, इससे केशवदासजी की पुत्रवधू का उनके नाम पर प्रसिद्ध होना बहुत संभव है । इसलिए केशवदास जी बिहारी के पिता थे ।

पर यदि बिहारी के पिता प्रसिद्ध कवि केशवदास होते तो यह बात परंपरा में अवश्य प्रसिद्ध होती । इससे जान पड़ता है कि बिहारी प्रसिद्ध कवि केशव के पुत्र नहीं थे । पर वे किसी और केशव के पुत्र अवश्य थे, और वे केशव भी अच्छे कवि रहे होंगे । उनकी कविता अधिक प्रचलित नहीं हो पाई, इसलिए उनका नाम कहीं सुन नहीं पड़ता । यदि ऐसा मान लिया जाय तो 'केशव-पुत्रवधू' का झगड़ा भी मिट जाता है और कुलपति

मिश्र की वंदना में आए हुए 'कविवर' शब्द की संगति भी मिल जाती है। इन सबके अतिरिक्त कुलपति मिश्र के दोहे पर कुछ विशेष ध्यान देने की और आवश्यकता है। उसमें जो 'केशव केशवराय' पद आया है वह ज्यों का त्यों बिहारी के दोहे में भी मिलता है। मिश्रजी के दोहे में इस पद का दोहरा अर्थ खींचतान से ही हुआ माना जायगा। देखिए—

कविवर मातामह सुमिरि, केसव केसवराय ।

कहाँ कथा भारत की भाषा-छंद बनाय ॥

'केशव' (कृष्ण या विष्णु) के समान 'केशवराय' कहने की यहाँ कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। इसलिए ऐसा जान पड़ता है कि यह पूरा का पूरा पद उनके मातामह का नाम था। ऐसा नाम अद्भुत अवश्य कहा जा सकता है, पर असंभव नहीं। बिहारी के दोहे में भी 'केशव केशवराय' पद का ज्यों का त्यों मिलना अवश्य रहस्यपूर्ण है। यदि यह नाम है तो दोनों दोहों में जो दोहरे अर्थ लगाए जायेंगे वे अधिक चमत्कार उत्पन्न करनेवाले होंगे। आलंकारिक 'निरुक्ति' अलंकार या वदिया श्लेष देखकर मुग्ध हो जायेंगे। सहूलियत के लिए बिहारी का दोहा भी सामने रख लीजिए—

प्रगट भए द्विजराज-कुल सुबस बसे ब्रज आय ।

मेरे हरौ कलेस सब केसव केसवराय ॥

यह नाम हो सकता है, इसका प्रमाण यही है कि 'केशव केशवराय' नाम के एक कवि की कविता ही मिलती है। उनका नाम 'मिश्रबंधु-विनोद' में तो नहीं आया है, पर हमारे मित्र काशीनिवासी बा० ब्रजरत्नदासजी के पास एक हस्तलिखित पोथी

में उनके चार छंद दिए हुए हैं । उन छंदों के आरंभ में 'श्रीनामा' यह दिया गया है—'अथ केसौ केसौराइ कृत लिखते' । इसके बाद जो कविता लिखी गई है उसमें सब जगह कवि का नाम 'केसौ केसौराइ' ही आया है । कविता भी उत्तम है और शृंगार रस की ही है । यहाँ पर जिज्ञासुओं के अवलोकनार्थ वे चारों छंद उद्धृत किए जाते हैं—

कवित्त

लबगी चटपटी अटपटी सब बातें कहै ,
 लटपटी भई जाति, प्राण गए पिय मैं ।
 'केसौ केसौराइ' कहूँ बारक विलोकि आई ,
 तब ही तें देखिये न हियो रखो हिय मैं ॥
 आन कहै आन करे आन हाथ पाइ भई ,
 अन्न के अनप न सुधि रही तिय मैं ।
 सीरो जानि तातो करे, तातो जानि सीरो करे ,
 दूध न जमायो जाइ नेहु जाम्यो जिय मैं ॥
 लोक-लोहू रहै नाहिं, लाज न लहरि लागै ,
 कुल-उरवाइगी बिलोकै ही नसतु है ।
 अणुजस-नींब आली ! नैकु करवाई नाहिं ,
 काकी परवाह प्राण लेवे कौ हँसतु है ॥
 'केसौ केसौराइ' पैड पैड पर भेंट होति ,
 बचिबो कहाँ तें, ब्रज-बीथिन बसतु है ।
 मनि-मोरचंद्रिका, बजायो बिसु बाँसुरी सो ,
 कारो ढोटा काहू को है कारे लौं डसतु है ॥

सवैया

को बरजै गई नैहर सासु री भौन के भीतर मेलि मदी ही ।
 कानन जान दई जननी लरिकापन तें जौ लौं बैस बदी ही ॥

देखतैं 'केसव केसवराइ' तौ है निपुनै वैज कोक पदी ही ।
 छूटी उतै अचरा कितहू इहि बानक आजु ऐवान चदी ही ॥
 लेहुगी काहू के प्रान न लेहु हो ऐसे बिना कहा नाँव कदैगौ ।
 नोपी भई तुम ही नई नारि, कहा तुम सी बिधि फेरि गदैगौ ॥
 'केसव केसवराइ' बुरी धुनि लोग तिहारोई नाँव रदैगौ ।
 बैठि रहौ घरघालनहारि भटा न चदौ कोऊ मूड़ चदैगौ ॥

इन उदाहरणों से यह तो सिद्ध हो जाता है कि 'केशव केशवराय' नाम होना केवल संभव ही नहीं है, उस नाम के कोई कवि वस्तुतः थे । अब देखना यह चाहिए कि क्या इन 'केशव केशवराय' का बिहारी से कोई संबंध स्थापित हो सकता है ? कथित हस्तलिखित पोथी में केवल इन्हीं के चार छंद नहीं हैं, उसमें कई और पुस्तकें भी हैं । इनमें से एक में लिपिकार का नाम, लिपि करानेवाले का नाम और लिपि का समय, तीनों बातों का उल्लेख है । पोथी उतारनेवाले हैं कोई मनोहर, और यह लिखी गई है किन्हीं रामजी चिरंजीव के लिये । लिपिकाल सं० १७६३, फाल्गुन कृष्ण ७, बुधवार दिया हुआ है । इसलिए इसमें जितने कवियों की कविताएँ उतारी गई हैं वे सब उस समय से पहले के ही होंगे । इस प्रति में जितनी पुस्तकें जिन जिन कवियों की हैं उनका ब्यौरा नीचे दिया जाता है—

१—सुदामा-चरित—कमलानंद कृत (आरंभ के पन्ने नहीं हैं) ।

२—शुक-संवाद—खेम-कृत ।

३—सुंदर-संग्रह—सुंदरदास । (लिपिकाल सं० १७६३) ।

४—नाम-प्रताप-प्रसाद—अग्रदास-कृत ।

५—धर्म-कर्म-संवाद—अज्ञात ।

६—गुण-अक्षर-माला—अज्ञात ।

७—बौसुरी—अज्ञात ।

८—केशव केशवराय के चार छंद (ये ऊपर उद्धृत किए गए हैं) ।

९—एक सवैया—अज्ञात ।

१०—छीहल-बावनी—छीहल (खंडित) ।

जो व्यौरा ऊपर दिया गया है उसमें जिस पुस्तक या रचना के सामने 'अज्ञात' लिखा है उसके कवि का कहीं पता नहीं लगता । शेष कवियों में से 'कमलानंद' का हमें पता नहीं । अन्य सभी कवि ज्ञात हैं । खेम का समय सं० १६३०, सुंदरदास का १६५३, अमदास का १६३२ और छीहल का १५७५ है । संवत्तो का यह व्यौरा देखने से इस पोथी में सं० १६५३ या उससे कुछ पहले के ही ज्ञात कवियों की कविता है, इससे इधर के कवियों की नहीं । इस साहचर्य से यह कल्पना की जा सकती है कि जिन कवियों का नाम अज्ञात है अथवा जिनका नाम तो ज्ञात है, पर समय का पता नहीं चलता, वे भी उसी समय के लगभग के कवि होंगे । अगर यह कल्पना की जा सके तो 'केशव केशवराय' का समय भी उसीके लगभग माना जायगा । ऐसा मान लेने पर उनका समय १६५० के आसपास पड़ेगा । बिहारी का जन्म सं० १६५२ में माना जाता है, इसलिए 'केशव केशवराय' का समय बिहारी से पहले हुआ ।

अनुमान की कड़ी जोड़ाई से खड़े किए गए इस महल का लेखा यदि ज्यों का त्यों मान लिया जाय तो फिर यह कल्पना बड़े मजे में की जा सकती है कि संभवतः बिहारी के पिता ये ही

‘केशव केशवराय’ रहे हों। हम अपनी बात को पक्का मानने का अनुरोध तो नहीं कर सकते, पर इतिहास के विद्वानों से इस बारे में अनुसंधान करने का अनुरोध अवश्य करेंगे। बहुत संभव है कि इस कल्पना में सत्यता ही सत्यता हो। हमें तो इस संबंध में अधिक आशा दिखाई पड़ रही है, पर विषय अधिक अनुसंधान-सापेक्ष है, इसी से जोर देने का साहस नहीं किया गया।

प्रस्तुत पुस्तक शुद्ध समीक्षा को दृष्टि में रखकर लिखी गई है और इसमें बिहारी की मूल विशेषताओं के उद्धाटन का प्रयत्न किया गया है। हमें आशा है कि बिहारी की शुद्ध समीक्षा के अभाव के कारण उनकी सतसई का अध्ययन करनेवालों, विशेषतः विद्यार्थियों को जो कठिनाई पड़ती थी, उसमें यह कुछ सहायता अवश्य करेगी। पुस्तक लिखते समय दृष्टि के सामने विद्यार्थियों की ज्ञानवृक्षकताएँ थीं इसीसे इस पुस्तक में बहुत-सी बातें ऐसी लिखी गई हैं जो जानकारों के समक्ष पिष्टपेषण या पुनरुक्ति समझी जा सकती हैं। इसके लिए हमें क्षम्य समझना उनका भी धर्म है।

अंत में हम उन सभी लेखकों, टीकाकारों, आलोचकों आदि का हृदय से आभार स्वीकार करते हैं जिनके ग्रंथों से इस पुस्तक के प्रस्तुत करने में हमें किसी प्रकार की छोटी से छोटी सहायता भी मिली है। सबसे अधिक कृतज्ञ हम अपने श्रद्धेय आचार्य पं० रामचन्द्रजी शुक्ल के हैं, जिनकी लिखित और कथित बातों का भो निःसंकोच उपयोग किया गया है। स्वर्गीय पं० अम्बिकादत्त व्यास और बा० जगन्नाथदास ‘रत्नाकर’ के भी हम ऋणी हैं क्योंकि ‘सतसई-संबंधी-साहित्य’ नामक प्रकरण इन्हीं महानुभावों के ग्रंथों एवं लेखों के आधार पर लिखा गया है। ‘रत्नाकर’ जी की रचनाओं

से हमें और भी बहुत-सी ज्ञातव्य बातें मिली हैं । इस पुस्तक में दोहों का पाठ और उनकी संख्या भी 'बिहारी-रत्नाकर' से ही ली गई है, क्योंकि अब वही संस्करण प्रामाणिक माना जाता है । यद्यपि शब्दों के रूपों के संबंध में हमारा कुछ मतमैद है किंतु पाठकों की सहूलियत के विचार से पाठ उसी का रखा गया है । उक्त सभी महानुभावों के प्रति हम पुनः विनम्र भाव से कृतज्ञता प्रकाशित करते हैं और विद्वानों से प्रार्थना करते हैं कि वे शुटियों के लिए क्षमा करते हुए जो भी समुचित परामर्श देंगे उसके लिए हम सदा प्रस्तुत रहेंगे ।

रथयात्रा, १९९३ वि०
ग्रहनाल, काशी ।

—विश्वनाथप्रसाद मिश्र

प्रकरण-सूची

१—संक्षिप्त जीवनी	१-९
२—तत्कालीन लोकरुचि	१०-१६
३—शृंगार-भावना	१७-२८
४—मुक्तक-रचना	२९-३९
५—बाहरी प्रभाव	४०-५०
६—सतसई की परंपरा	५१-६२
७—प्रसंग-विधान	६३-७६
८—दोहे की समास-पद्धति	७७-८६
९—बिहारी की जानकारी	८७-९६
१०—अलंकार-योजना और अप्रस्तुत-विधान	९७-११७
११—रूप-चित्रण और अनुभाव-विधान	११८-१३१
१२—प्रेम का संयोग-पक्ष	१३२-१५५
१३—विप्रलंभ एवं विरह-वर्णन	१५६-१६८
१४—भक्ति-भावना	१६९-१७६
१५—भाव-व्यंजना	१७७-१८५
१६—वाग्वैदग्ध्य और उक्ति-वैचित्र्य	१८६-१९४
१७—भाषा	१९५-२२७
१८—दोष-दर्शन	२२८-२३७
१९—बिहारी का प्रभाव	२३८-२४९
२०—बिहारी-संबंधी-साहित्य	२५०-२७६
२१—उपसंहार	२७७-२८१
२२—नामानुक्रमणिका	२८२-२८८



बिहारी की वाग्बिभूति



कविवर बिहारी

लगे । ❀ इसलिए बिहारी के पिता भी उस स्थान को छोड़कर ब्रज की ओर चले गए और वृंदावन में जाकर रहने लगे । बिहारी ने वहाँ जाकर और अध्ययन किया तथा संगीत का भी अभ्यास किया । वहीं के रहनेवाले एक प्रसिद्ध माथुर ब्राह्मण के यहाँ बिहारी की बहिन की शादी हो गई । † बिहारी का विवाह भी मथुरा में ही किसी माथुर ब्राह्मण के यहाँ संपन्न हुआ । विवाह होने के पश्चात् ये अपनी ससुराल में ही रहने लगे । उसी समय के लगभग (सं० १६७५) शाहजहाँ वृंदावन गया था । उसने लोकविश्रुत नरहरिदासजी के दर्शन किए । शाहजहाँ के समक्ष होनहार बिहारी की महात्माजी ने प्रशंसा की । इनकी प्रतिभा देखकर शाहजहाँ ने इन्हें आगरे में आकर रहने के लिए कहा । कहा जाता है कि बिहारी आगरे चले गए । ‡ वहाँ उन्होंने उर्दू-फारसी का भी अभ्यास किया और प्रसिद्ध

❀ वृत्ति दर्ई पुरुषानि की, देउ बालकनि आसु ।

मोहि आपनो जानि कै, गंगातट देउ बासु ॥

वृत्ति दर्ई पदवी दर्ई, दूरि करौ दुख त्राम ।

जाइ करौ सकलत्र श्रीगंगा तट बस-बास ॥

—विज्ञानगीता, २१-५६, ५७ ।

† कुलपति मिश्र बिहारी के भानजे थे । उन्होंने 'संग्राम-सार' के आरंभ में एक दोहा लिखा है, जिसमें उन्होंने भी अपने नाना का नाम 'केशवराय' कहा है—

कबिबर मातामह सुमिरि, केसव केसवराइ ।

कहाँ कथा भारत्य की, भाषा-छंद बनाइ ॥

कुलपति मिश्र के पिता का नाम परशुराम मिश्र था ।

‡ श्रीनरहरि नरनाइ कौं, दोनी बाँह गहाइ ।

सुगुन-आगरै आगरै, रहत आइ सुखु पाइ ॥

—ना० प्र० प० (नवीन०), भाग ८, अंक १, पृष्ठ ११८ ।

कवि अन्दुरहीम खानखाना से भी उनकी भेंट हुई। उनकी प्रशंसा में भी बिहारी ने कुछ दोहे कहे। ❀ कहा जाता है कि बिहारी की कविता पर प्रसन्न होकर खानखाना साहब ने उन्हें बहुत कुछ पुरस्कार दिया।

सं० १६७७ में शाहजहाँ के किसी उत्सव में भारत के बहुत-से राजा-महाराजा आमंत्रित हुए। उस समय बिहारी की काव्य-प्रतिभा को देखने का अवसर उन नरेशों को मिला। इनकी कविता पर प्रसन्न होकर उन लोगों ने इनकी वार्षिक वृत्ति बाँध दी। इधर सं० १६७८ में नूरजहाँ की कुटिलता के कारण बादशाह जहाँगीर और शाहजादा शाहजहाँ के बीच कुछ मनमुटाव हो गया। इसलिए शाहजहाँ आगरे से हटकर रहने लगा। शाहजादा के कृपापात्र बिहारी की स्थिति भी उस समय डाँवाडोल हो गई और वे इधर-उधर हट-बढ़कर रहने लगे। वे नियमानुसार कुछ राजाओं के यहाँ वृत्ति लेने के लिए प्रतिवर्ष आया-जाया करते थे। उनका जाना जोधपुर और बूंदी में भी कहा जाता है। वे आगरे भी जाया करते थे। सं० १६९१-९२ के लगभग वे जब अपनी वृत्ति लेने के लिए आमेर गए हुए थे तो पता चला कि तत्कालीन नरेश महाराजा जयसिंह एक नयी ब्याह लाई हुई रानी के प्रेम में मुग्ध होकर महल के भीतर ही पड़े रहते हैं। उन्होंने राज के कार्यों को सँभालना भी छोड़ दिया है। उन्होंने यह आज्ञा भी कर दी है कि यदि कोई उनके रंग में भंग करेगा तो

❀ गंग गोंछ मोछै जमुन, अधरनु सरसुति-रागु।

प्रगट खानखानानु कै, कामद बदन प्रयागु ॥

—बही, पृष्ठ ११८।

कुछ लोग इसे गंग कवि का रचा भी कहते हैं।

उसकी खैरियत नहीं । इसलिए किसी की हिम्मत उनसे कुछ कहने-सुनने की नहीं पड़ती थी । उनकी प्रधान महारानी श्रीअनंतकुमारी, जो चौहानी रानी के नाम से प्रसिद्ध थीं, इस घटना के कारण बड़ी व्यग्र थीं । बिहारी ने अपना समाचार राजा तक पहुँचाने का बहुत उद्योग किया, पर किसी की हिम्मत न पड़ी । अंत में बिहारी को एक युक्ति सूझी और उन्होंने अपनी कविता के प्रभाव से महाराज को सचेत करने की ठानी । उन्होंने बड़ा उद्योग करके निम्नलिखित दोहा महाराज के निकट पहुँचाया—

नहिं परागु नहिं मयुर मधु, नहिं बिरासु इहिं काल ।

अली ! कली ही सौं बँध्यो, आगैं कौन हवाल ॥

—बिहारी-सनसई, ३८ ।

इस दोहे की रहस्यमय उक्ति ने महाराज को सचेत कर दिया और वे तुरत महल छोड़कर बाहर निकल आए । उन्होंने प्रसन्न होकर बिहारी को बहुत-सा पुरस्कार दिया और कहा कि यदि आप इसी प्रकार कविता बनाकर मुझे सुनाया करें तो आपको प्रति छंद एक मोहर पुरस्कार-स्वरूप मिला करेगी । बिहारी ने यह आदेश स्वीकार कर लिया । चौहानी रानी को जब इस बात का पता लगा तो वे बहुत आनंदित हुईं और उन्होंने प्रसन्न होकर बिहारी को 'काली पहाड़ी' नामक ग्राम दिया । उन्होंने बिहारी-संबंधी उस घटना का एक चित्र भी बनवाया । ❀

जिस समय बिहारी वहाँ पहुँचे थे उस समय चौहानी रानी गर्भवती थीं । कुछ ही महीनों में उनके गर्भ से कुमार रामसिंह ने

जन्म-ग्रहण किया । उस अवसर पर बड़ा उत्सव हुआ । बिहारी ने भी कुछ दोहे उस अवसर के कहे । ❀ एक बड़ा दरबार 'दर्पण-मंदिर' में किया गया । † इसी समय के आसपास जयसिंहजी ने कोई छोटी लड़ाई भी लड़ी थी और 'लाखन' नाम के व्यक्ति को मार भगाया था । उसका वर्णन भी इन्होंने अपनी कविता में किया । ‡ अब बिहारी आमेर दरबार के राजकवि होकर अपना जीवन सुखपूर्वक व्यतीत करने लगे । कुछ समय बाद जब कुमार रामसिंह बड़े हुए तो चौहानी रानी के कहने से बिहारी ने ही कुमार का विद्यारंभ-संस्कार कराया । कुमार के पढ़ने के लिए बिहारी ने, उस समय तक इनके जितने दोहे बने थे उन्हें एकत्र करके, संग्रह बना दिया । इसके साथ ही इन्होंने उसमें अन्य कवियों के दोहे भी संग्रह कर दिए ।

बिहारी के कोई संतान नहीं थी । इसलिए उन्होंने अपने भतीजे 'निरंजन' को अपना पुत्र बना लिया । ❁

❀ चलत पाइ निगुनी गुनी, धनु मनि-मुत्तय-माल ।

भेंट होत जयसाहि सौ, भागु चाहियतु भाल ॥ ०

— बिहारी-सतसई, १५६ ।

† प्रतिबिंबित जयसाहि-दुति, दीपति दरपन-धाम ।

सब जगु जीतन कौ करयो, काय-ब्यूढ़ मनु काम ॥

— बिहारी-सतसई, १६७ ।

‡ रहति न रन, जयसाहि-मुखु लखि, लाखनु की फौज ।

जाँचि निराखरऊ चलै, लै लाखनु की भौज ॥

— बिहारी-सतसई, ८० ।

❁ जनश्रुति के अनुसार बिहारी के एक पुत्र कृष्णलाल का होना माना जाता

बिहारी बहुत बड़े रसिक जीव थे, यह बात उनके दोहों से साफ लक्षित होती है। पर उनकी रसिकता नागरिक जीवन की रसिकता थी, यह भी मानना पड़ेगा। यद्यपि उन्होंने अपने काव्य के लिए वर्य विषय जीवन की सामान्य लोक-भूमि से ही लिया था, और यदि उनके अप्रस्तुत-विधानों पर विचार किया जाय तो भी वे—परंपरागत कुछ रूढ़ियों को छोड़कर—सामान्य जीवन से ही संगृहीत जान पड़ते हैं; तथापि उनका जीवन एक नागरिक जीवन था, क्योंकि साधारण जीवन के माधुर्य में उनकी वृत्ति वैसी जमी नहीं। वे बराबर 'नागरता के नाम' पर रोते ही रहे। इनका स्वभाव भी नागरिकों का-सा ही विनोदी और व्यंग्यप्रिय था। भगवान् से न तारने के लिए अड़ने की उक्ति से यह भी लक्षित होता है कि ये बड़े मस्त जीव थे। कहन की यह वक्रता, इनके स्वभाव की वक्रता का भी संकेत करती है।

नागरिक जीवन में अथवा विभिन्न स्थानों पर आने-जाने में इन्हें अवसर-अवसर पर कटु अनुभव भी प्राप्त हुए थे। इनकी कविता के द्वारा उसका भी संकेत मिलता है। नीति की उन थोड़ी-सी शक्तियों को कवि को अनुभूत घटनाओं की व्यंजना-मात्र समझना चाहिए। इनमें से कुछ का उल्लेख नीचे कर दिया जाता है।

है। उन्होंने बिहारी-सतसई पर अपनी सवैयों वाली टीका भी लिखी है। रत्नाकरजी का कहना है कि संभवतः निरंजनजा का नाम निरंजनकृष्ण रहा होगा, क्योंकि बिहारी के वंशजों के नाम में 'कृष्ण' शब्द बराबर नाम के अंत में मिलता है। इस प्रकार के नाम प्रायः खंडित होकर आधे-आधे भी पुकारे जाते हैं। इसलिए कोई उन्हें 'निरंजन' कहता रहा होगा और कोई 'कृष्ण'। अतः ये दोनों एक ही व्यक्ति हैं।

—ना० प्र० प० (नवीन०), भाग ८, अंक २, पृष्ठ १९०।

आवत जात न जानियतु, तेजहिं तजि सियरानु ।

घरहँ जँवाइ लों घट्यौ, खरौ पूस-दिन-मानु ॥

—बिहारी-सतसई, १७१ ।

इसमें बिहारी ने घरजमाई अर्थात् ससुराल में रहनेवाले दामाद के निस्तेज होने का उल्लेख किया है । उनकी जीवनी से पता चलता है कि वे अपनी ससुराल में रहा करते थे । इस प्रकार का अनुभव उनका अपना अनुभव है ।

नीचे दो चार उदाहरण ऐसे देते हैं जिनसे कवि के हृदय की व्यथा बहुत साफ लक्षित होती है, और वह उसके जीवन से ही संबंधित है, इसे भी मानना पड़ेगा—

हरि ! कीजति बिनती यहै, तुम सों बार हजार ।

जिहिं तिहिं भौंति ड्यौ रह्यौ, प्यौ रहौं दरबार ॥

—बिहारी-सतसई, २४१ ।

इस दोहे से यह स्पष्ट भलकता है कि कवि संसार की किसी विशेष घटना के कारण क्षुब्ध होकर ऐसा कह रहा है ।

बढ़त बढ़त संपति-सलिलु, मन-सरोजु बढि जाइ ।

घटत घटत सु न फिरि घटै, बरु समूल कुम्हिलाइ ॥

—बिहारी-सतसई, २३१ ।

यह उक्ति या तो बिहारी ने अपने धनाभाव के संबंध में कही होगी या किसी बिगड़े रईस पर ।

बसै बुराई जासु तन, ताही कौ सनमानु ।

भलौ भलौ कहि छोड़ियै, खोटै ग्रह जपु दान ॥

—बिहारी-सतसई, ३८१ ।

किसी दुष्ट के उच्च पद पाकर संमानित होने को लक्ष्य कर यह उक्ति कही गई है ।

समै-पलट पलटै प्रकृति, को न तजै निज चाल ।

भौ अकरन करुनाकरौ, इहिं कपूत कलिकाल ॥

बिहारी-सतसई, ६६१ ।

किसी आपत्ति में भगवान से प्रार्थना करने पर भी दुःख के दूर न होने पर यह उक्ति कही गई है। इसमें कवि के हृदय की वह खीभ साफ व्यंजित होती है।

इन उदाहरणों से कवि के स्वभाव और उसकी परिस्थिति का थोड़ा बहुत अंदाज लगाया जा सकता है। मुक्तक-काव्य की रचना करनेवालों की नीति-संबंधी उक्तियाँ उनके सांसारिक जीवन से विशेष संबंध रखती हैं। जिनमें अनुभूति की मात्रा विशेष होती है और जिन्हें लोक के भीतर बहुत दूर तक दृष्टि दौड़ा सकने का अवसर प्राप्त होता है वे ही इस प्रकार की सूक्तियाँ लिख सकते हैं। रहीम की ऐसी रचनाओं में जो रसात्मक अनुभूति पाई जाती है उसका कारण उनका लोक-व्यवहार के मेल में होना ही है। बिहारी की ये उक्तियाँ भी उनके अनुभव के परिणाम-स्वरूप ही बनी होंगी, इसमें संदेह नहीं। अतः इनमें कवि के जीवन को लक्षित करने का प्रयत्न करना ठीक ही कहा जायगा।

बिहारी सं० १७२० के आस-पास परलोकवासी हुए । ❀

❀ संवन ग्रह ससि जलधि छिति, छठि तिथि बसर चंद ।

चैन मास पख कूरन मै, पूरन आनंद-कंद ॥

यह दोहा सतसई-समाप्ति का समय (१७१६) बतलानेवाला माना जाता है, पर 'रत्नाकरजी' ने इसे कृष्णलाल की गद्य-टीका का समय माना है। क्योंकि यह तीन प्राचीन टीकाओं में ही मिलता है, सभी में नहीं। —वही, पृष्ठ ११५ ।

तत्कालीन लोकरुचि

अकबर की शासन-व्यवस्था के अनंतर भारत में मुगलों का साम्राज्य दृढ़ हो गया, मुसलमानों के पैर यहाँ भली भाँति जम गए। मुसलमान भारत को अपना देश समझने लगे और यहाँ के निवासियों से हृदय की वृत्तियों का सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न भी कुछ-कुछ सफल हो गया। मुसलमानों के आगमन से जो विप्लव उठ खड़ा हुआ था उसकी शांति बहुत पहले से ही हो चली थी। राजपूत जाति अपनी बिखरी हुई शक्ति का पराजय स्वीकार कर चुकी थी। अब उसमें वह शौर्योन्मेष दिखाने का हौसला नहीं रह गया था। यद्यपि हिंदू और मुसलमान जातियों की वृत्तियों के मेल का प्रयत्न अलाउद्दीन के राज्यकाल के ही पीछे से होने लगा था, पर राजकीय उपप्लव और राजपूतों की शक्ति के प्रदर्शन कभी-कभी देश में अशांति की लहरें उठा देते थे और इस प्रयत्न में बाधाएँ आ खड़ी होती थीं। किंतु पददलित जाति, अपने गौरव एवं एकत्व को भूल बैठनेवाली हिंदू जाति, बहुत दिनों तक विदेशियों की संघटित शक्ति का सामना नहीं कर सकी, उसे नतमस्तक होना ही पड़ा। अकबर ने अपनी कूटनीति के द्वारा राजपूतों से संबंध स्थापित कर विजित जाति की प्रीति का संपादन भी कर लिया। यद्यपि वीरकेसरी महाराणा प्रताप ने उसके विरोध में अपनी आवाज ऊँची की, पर उनका दुस्साहस संघटित रूप के अभाव में अरण्यरोदन ही सिद्ध हुआ। उनके अनंतर एक प्रकार से उत्तरा-

पथ में मुसलमानों का अबाध साम्राज्य निर्विरोधस्थापित हो गया । बहुत दिनों से रण-संघर्ष में संलग्न रहकर अपने बल का हास करनेवाली जाति विश्राम एवं वैराग्य की ओर झुकी । जहाँगीर और शाहजहाँ का शासन शांति की क्रोड़ में ही चलता रहा । इस शांति के फल-स्वरूप कोई प्रतिवर्तन उत्तरापथ में नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ के लोग अपनी शक्ति को एकदम भूल बैठे थे । आगे चलकर औरंगजेब के कठोर शासन के प्रतिवाद में जो भीषण प्रतिवर्तन की ध्वनि सुनाई पड़ी वह सुदूर दक्षिण से ही ।

शाहजहाँ के समय तक दोनों जातियाँ बहुत कुछ साम्य स्थापित करने की ओर अग्रसर हो चुकी थीं । कबीर बाबा के उद्योग और सूफी कवियों के प्रयत्न से दोनों जातियों के बीच प्रेम का सूत्र भी पहले से ही जुड़ने लगा था । विदेशी भावों का प्रभाव भी देश में फैल रहा था । अकबर ने गुणियों का आदर करके दिल्ली का फाटक सबके लिए खोल दिया था । संमान एवं धन के लोलुप विद्वान दिल्लीश्वर की जी-हुजूरी करने के लिए दिल्ली का रास्ता नापने लगे थे । राजपूतों के छोटे-छोटे राज्य अवसाद मिटाने में लगे थे । विश्राम की निद्रा में उन्होंने धीरे-धीरे शृंगार के स्वप्न भी देखने आरंभ कर दिए । राज-दरवार प्राचीन काल में शृंगार और शौर्य दोनों के केंद्र-स्थल हुआ करते थे । अब वे केवल शृंगार के केंद्र बनने लगे । मुसलमानों ने यहाँ जमकर अपनी विलासिता और शृंगार का भी प्रसाद लोगों में बाँटना आरंभ किया । धीरे-धीरे मुसलमानी हवा हिंदुओं के हृदय में घर करने लगी और उसने शृंगार की अग्नि में और उद्दीप्ति उत्पन्न कर दी ।

कलियुगी भावों का जो चित्रण बाबा तुलसीदास कर चुके

थे,॥ उसमें कमी नहीं हुई । भगवान की उपासना के जो क्षेत्र खोले गए उनमें से लीलापुरुषोत्तम की उपासना में शृंगार का बहुत अधिक रंग चढ़ गया । कवियों ने जब इस स्वरूप का निरूपण आरंभ किया तो वे 'राधा-कन्हाई के सुमिरन' का बहाना करके घोर से घोर शृंगार, यहाँ तक कि विपरीत आदि के अश्लील वर्णन भी, साहित्य के भांडार में ढूस-ढूसकर भर ही तो दिए । उपासना का आवरण पहने जो शृंगारी कविता हिंदी में प्रचलित हुई उसका लगाव पीयूषवर्षी जयदेव से है । वही विद्यापति और सूर आदि ब्रजवासी कवियों से होती हुई अपना प्रसार करती रही है । पर नायिकाभेद की दीवार पर जो चित्रकारी हुई है उसका लगाव एक ओर तो प्राकृत एवं अपभ्रंश की गाथाओं से है और दूसरी ओर नाट्य-शास्त्र के ग्रंथों में निरूपित रस एवं तदंतर्गत शृंगार के आलंबन एवं निरूपण से । जो बातें इस उद्देश्य से लिखी गई थीं कि अभिनय करते समय नट अपनी मुद्राओं और वृत्तियों पर उन सिद्धांतों के आधार पर शासन करे, उन्हें आगे चलकर लोगों ने एक स्वतंत्र ही स्वरूप दिया † और हिंदी में नायक-नायिकाभेद के ही उदाहरण प्रस्तुत होने लगे । यद्यपि बिहारी की कविता उन नायिकाभेदवाले कवियों के अंतर्गत नहीं आती, क्योंकि उसकी परंपरा प्राकृत एवं

॥ रामचरित-मानस, उत्तरकांड, ६६-१०२ ।

† संस्कृत की 'रसमंजरी' केवल नायिकाभेद का ही निरूपण करनेवाली है । हिंदी में नायिकाभेद का प्रसार उसी की विशेष रूप से आधार मानकर हुआ है । अन्य ग्रंथों का आधार लोगों ने आगे चलकर लिया । नायिकाभेद के ग्रंथों को देखने पता चलता है कि इस प्रकार के निरूपण की प्रथा पुरानी है, क्योंकि रसमंजरीकार मानुसंह अपने ग्रंथ में यथास्थान 'प्राचीनलेखनात्' का प्रयोग भी करते हैं ।

अपभ्रंश की गाथाओं, दूहा आदि से सटी चली आई है, तथापि उसमें नायिकाभेद की दृष्टि से निर्मित छंदों का भी अभाव नहीं है। तत्कालीन प्रवृत्ति के प्रभाव से लोगों ने उसके अतःशीर्षक भी वैसे ही बाँधे हैं और दोहों की व्याख्या भी उसी ढंग से की है।

जिस समय बिहारी का आविर्भाव हुआ उस समय रजवाड़ों की क्या स्थिति थी, यह तो उनके उस प्रसिद्ध दोहे 'अली कली ही सौं बँध्यौ' से ही स्पष्ट लक्षित हो जाता है। समाज की कैसी स्थिति थी, इसकी झलक उनकी कविता में यद्यपि बहुत साफ नहीं है, पर मिलती अवश्य है। लोभ, कपट, दंभ एवं पाखंड की वृद्धि हो रही थी। समाज में लोग लोभ के फेर में पड़कर निकृष्ट व्यक्तियों की भी सेवा कर रहे थे। अब कविता 'स्वान्तःसुखाय' न होकर 'स्वामिनः सुखाय' हो रही थी। साधारण व्यक्तियों की भी धन के लोभ से प्रशंसा करना, उनकी कीर्ति से इंद्र को कँपा देना, उनकी विद्वत्ता से बृहस्पति को पीला बना देना, उनकी सुंदरता देखकर कामदेव का जल मरना आदि तो मामूली बातें थीं। यह रोग इतना बढ़ा कि आगे चलकर देवदत्त ऐसे कवि को कहीं 'भवानी-विलाम्ब' की रचना करनी पड़ी तो कहीं 'कुशलविलास' की। लोभ का चश्मा लगाकर लोग छोटों को भी बड़ा देख रहे थे। ❀ जब आँख ही ठीक न रही, हृदय की आँखों का भी पानी ढल गया तो निकृष्टसेवा का बढ़ना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

'कपूत कलिकाल' ने सबपर अपना ऐसा रंग चढ़ा दिया था कि सिवा भाग्य टोंकने के लोग और कर ही क्या सकते थे ? † कपट के कपाटों के लग जाने से ‡ लोगों ने सच्ची भगवदुपासना छोड़ दी

थी, केवल बाहरी चिह्नों—माला, मुद्रा, तिलक आदि—को ही पकड़ रखा था । ❀ अंतःकरण में शुद्ध भक्ति का उद्रेक बहुतांश में नहीं होता था । इसका परिणाम यह हुआ कि जो सीधे थे, सौम्य थे, जिनमें निष्कपटता का भाव था उन्हें तो कोई पूछता ही नहीं था, पर जिनमें चातुर्य था, जो अपनी कला से दूसरों को रिझा सकते थे, उनका सभी जगह संमान होता था । † धार्मिक क्षेत्र में भी यही विप्लव था । लोग अपना-अपना मतवाद लेकर उसी के समर्थन में लगे रहते थे । ‡ सांप्रदायिकता का विष फैल रहा था, समन्वय का प्रयत्न ढीला पड़ रहा था ।

प्रजा यद्यपि रण-विप्लव की भीषणता से निश्चित हो रही थी, पर भीतरी अकांड तांडवों से उसका चित्त व्यग्र था । हिंदू अपने ही भाइयों के विरुद्ध कपटाचार कर रहे थे । § 'दुर्गज' में पड़कर जनता दोनों ओर से पिस रही थी । ¶ इधर देशी राजाओं से आगे धर मुसलमानी सूबेदारों से । राजाओं का दलन रोग और पातकों-सा भीषण होता था । ¶ सूबेदारों के दबाव के मिल जाने से तो चारों ओर अंधकार-ही-अंधकार दिखाई पड़ता था, कहीं भी शरण नहीं थी । लोग 'नीति-गलित' होकर संपत्ति जोड़ने में लगे थे, प्रजा पिस रही थी । || बड़ों की भूल के विरोध में कोई आवाज उठा ही नहीं सकता था । § वे लोग जो कुछ भी कर रहे थे उसे स्वीकार ही करना पड़ता था ; चाहे रजामंदी से, चाहे जबरन । इसीलिए प्रजा बाहरी शांति का ठाट देखकर भी अपनी प्रतिष्ठा बचाने की चिंता में थी । धन चाहे न मिले, किसी प्रकार

❀ वही, १४१ । † वही, ३८१ । ‡ वही, ५८१ । § वही, ३०० ।

¶ वही, ३५७ । ¶ वही, ४२६ । || वही ४८१ । § वही, ४३१ ।

पेट भर लिया जा सके, किंतु प्रतिष्ठा तो अवश्य वचनी चाहिए । भारत के हृदय ने अतिप्रतिष्ठा का कभी स्वप्न भी नहीं देखा, प्राण देकर भी प्रतिष्ठा की रक्षा की है । धन-संपत्ति तो एक बला है, अवगुणों की खानि है । उसके आते ही मनुष्य दूसरों को ठुकराना आरंभ करता है, दूसरे की प्रतिष्ठा को राह का ठीकरा समझता है । प्रतिष्ठा भूखों मरकर भी रखनी ही होगी । लोग यदुपति से यही प्रार्थना करते थे—

तौ अनेक औगुन-भरिहिं, चाहै याहि बलाइ ।

जौ पति संपत्ति हूँ बिना, जदुपति राखे जाइ ॥

—बिहारी-सतसई, ४२१ ।

इस संपत्ति को 'बिहारी' ने भी चाहा था, पर इन्होंने 'नीति गलित' होकर इसे नहीं चाहा । इन्होंने यह नहीं किया कि जिस किसी के दरबार में पहुँचे उसी की प्रशंसा में आकाश-पाताल एक करने लगे । पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि 'जग की वायु' उन्हें भी लगी । * इन्होंने यद्यपि अपने अनोखे 'कली-अली' के ~~दरबार~~ की नोक से महाराज जयसिंह को अकर्मण्यता से खींचकर बाहर किया, किंतु उसके अनंतर इन्होंने उन्हें केवल शृंगार-चषक ही पिलाना आरंभ किया । वे दीक्षा के मूलमंत्र को भूलकर उनके कानों में यथावसर ऐसे-ऐसे महामंत्र भी फूँकने लगे—

पण्यो जोरु, बिपरीत रति, रुपी सुरत-रन-धीर ।

करति कुलाहलु किंकिनी, गङ्गा मौलु मंजीर ॥

—बिहारी-सतसई, १२६ ।

उस समय राज-दरबारों की रुचि का रुख किधर था, इसका पता बिहारी की कविता से साफ चल जाता है । आचार्य केशवदास

ने लक्षण-ग्रंथों के निर्माण द्वारा शृंगार की स्थापना जोरों के साथ करके ऐसी प्रवृत्ति का आवाहन किया था, आगे चलकर उसने ऐसा भीषण रूप धारण कर लिया कि कवियों की रुचि ही बदल चली। कृष्ण-भक्ति के शृंगारी रूप ने तो सोने में सुहागे का काम किया। जनता नायिकाभेद का निरूपण सुनने लगी, भागवत और गीता का ज्ञान दूर चला गया। 'मानस' की ओर से अपने को 'रसिक' कहलवाने के लोभ ने मानस को बरखस खींच लिया। राजदरबारों, धनियों और जमींदारों का शगत नायिकाभेद का निरूपण हुआ और कवियों की कला का स्वाहाकार परकीया के हावभावों के चित्रण में होने लगा। एक बार 'भूषण' ने इस घोर धारा के कगारे पर खड़े होकर डूबनेवालों को किनारे लगने का संकेत किया, पर यहाँ तो गुग्गुलु मिल चुका था कि वे ही पार लग सकते हैं 'जे बने सब अंग'।❀

इस प्रकार के भावों का पंचामृत पीकर जो लोकरुचि हुई उसने भी 'बिहारी-सतसई' के अत्यधिक प्रचार में सहायता पहुँचाई है, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है। तात्पर्य यह कि 'समै-पलट पलटै प्रकृति'† का ही पाठ बिहारी पढ़ते रहे, उन्होंने 'प्रकृति' को स्वस्थ नहीं रखा। रोग और पातक की भाँति राजा की प्रकृति ने इनकी प्रकृति को भी धर दवाया। यदि बिहारी चाहते तो अभिभूत-हृदय नृपति को दूसरा मार्ग दिखा सकते थे, उन्हें शृंगार के कीचड़ से निकालकर फिर उसी के दलदल में न फँसाते।



शृंगार-भावना

भारतीय साहित्य में जब से मुक्तकों का प्रचार बढ़ा तभी से नीति की उक्तियों के साथ-साथ शृंगार की उक्तियाँ भी बढ़ने लगीं। मुक्तकों में रसाभिव्यक्ति का वैसा अवसर नहीं प्राप्त होता जैसा प्रबंध में। इसी से इसके शास्त्रीय अंगों के साथ ही साथ लोगों को रिझाने के लिए कवि लोग ऐसे-ऐसे वर्ण्य विषय भी काव्य में गृहीत करने लगे जो रस की पवित्र एवं व्यापक दृष्टि से शृंगार के आभास-मात्र थे, और कहीं-कहीं तो उन्हें विरोधाभास ही कहना समीचीन प्रतीत होता है। शृंगारी मुक्तकों का आधिक्य संस्कृत में ही हो चला था। प्राकृत और अपभ्रंश में आकर शृंगार की घोख तो नहीं दूर हो पाई, पर काव्य का आलंबन उच्च वर्ग से हटकर साधारण जीवन बनने लगा। वर्ण्य विषय के इस विस्तार से कहने को एक विस्तृत क्षेत्र तो मिला, पर साथ ही ऐसी-ऐसी बातें भी आने लगीं जिन्हें, यदि रसिक बुरा न मानें तो, 'ग्राम्य' कहा जा सकता है। प्राकृत और अपभ्रंश की जिस परंपरा को पकड़कर बिहारी ने अपनी काव्य-प्रतिभा का चमत्कार दिखाने का प्रयास किया है, उसी के प्रभाव के कारण इनकी कविता में थोड़े ऐसे प्रसंग भी आए हैं जो रस के विचार से अच्छे नहीं कहे जा सकते। विपरीत, सुरत आदि के वर्णन तो भड़े हैं ही, साथ ही रति और वात्सल्य के मेल अथवा वात्सल्य का तिरस्कार कर रति का ही प्रधानता से प्रतिपादन करने के कारण कहीं-कहीं ऐसी ही भद्दी

रुचि का और भी परिचय दिया गया है । उदाहरण के लिए यह दोहा लीजिए—

बिहँसि बुलाइ बिलोकि उत, प्रौढ़ तिया रस घूमि ।

पुलकि पसीजति पूत कौ, पिय-चूम्यौ मुँहु चूमि ॥

—विहारा-सतसई, ६१७ ।

इस दोहे में नायिका बालक का मुख इसलिए नहीं चूमती कि उसके हृदय में वात्सल्य भाव है, बल्कि इसलिए चूमती है कि प्रियतम ने उसका चुंबन किया है । बालकों के प्रति माताओं के हृदय में जो कोमल भावनाएँ स्वभावतः उठ सकती हैं उनका यहाँ पर कैसा संहार है ! यहाँ तक तो गनीमत है कि—

लरिका लैबे कैं मिसनु, लंगर मो ढिग आइ ।

गयौ अचानक आँगुरी, छाती छैलु छुवाइ ॥

—विहारी-सतसई, ३८६ ।

किंतु जहाँ प्रेमभाव बालक के प्रति होना चाहिए वहाँ भी अगर छैलारब्ध प्रेम होगा, तो वह विरोधाभास ही कहा जायगा । विदेश गए हुए पतियों की स्मृति बालकों के कारण अवश्य उद्दीप्त होती है और वैसी स्थिति में बालक को पति की विभूति समझकर उसका अधिक प्यार माताएँ प्रति-प्रेम के कारण भी करती हैं, पर कोई यह कहे कि वहाँ वात्सल्य का भाव ही नहीं होता, या वह उसका ऐसा ही वर्णन करे तो उसकी समझ का फेर ही मानना पड़ेगा । जब वियोग में ऐसी बात है तो संयोग में वात्सल्य का ऐसा तिरस्कार शृंगार की भद्दी रुचि ही जान पड़ती है । लौकिक दृष्टि से विचार करने पर 'प्रौढ़ तिया' की इस करतूत का समर्थन नहीं होता ।

इस प्रकार की भद्दी शृंगार-भावना का प्रसार केशवदासजी ने भी किया है। वात्सल्य के योग में रति को लाने का उन्हें अवसर तो नहीं मिला, पर 'रसिकप्रिया' में उन्होंने श्रीकृष्ण का रसिया रूप दिखाते-दिखाते ऐसे ऐसे उदाहरण प्रस्तुत कर दिए हैं जिनसे शृंगार उत्पन्न होना तो दूर रहा, घृणा होने लगती है। जैसे—

टूटी टाटि घुन घने धूम धूमसेन सने ,
 झींगुर छगोड़ी साँप बिच्छिन की धात जू ।
 कंटक-कलित तिन-बलित बिगंध जल ,
 तिनके तलप-तल ताको ललचात जू ॥
 कुलटा कुचील गात अंध तम अधरात ,
 कहि न सकत बात अति अकुलात जू ।
 छेड़ी में घुसे कि घर ईधन के घनस्याम ,
 घर घरनीनि यहाँ जात न घिनात जू ॥

—रसिकप्रिया, १४-३२ ।

इसे केशव ने वहाँ लिखा है जहाँ उन्होंने शृंगार का रस-राजत्व प्रतिपादित करने के लिए उसके भीतर व्रीभत्सरम (अथवा जुगुप्सा) को दिखलाने का प्रयत्न किया है। पर पुराने आचार्यों ने पहले ही कह दिया था कि जुगुप्सा शृंगार के विरोध में पड़ती है, इसलिए वह संचारी के रूप में नहीं आ सकती। ❀ पर थोथा पांडित्य-प्रदर्शन भी कैसे-कैसे खाँग खड़ा किया करता है, केशव का यह कवित्त उसी का एक उदाहरण है।

संस्कृत के उन रसिक कवियों ने इस प्रकार के वर्णन नहीं किए हैं जिन्होंने प्रबंध-कल्पना को ही काव्य का चरम उत्कर्ष समझा था, पर अन्य लोगों में ऐसे भाव बराबर चलते रहे। कभी-कभी इस प्रकार की प्रवृत्ति आलंकारिक चमत्कार दिखाने के लिए रससिद्ध कवियों में भी मिलती है, जैसे कालिदास में ; पर वह भी सर्वत्र नहीं, कहीं-कहीं। ❀ विहारी आदि कवियों में जो शृंगार-भावना दिखाई पड़ती है वह कहाँ से जुड़ी है, इसका उल्लेख किया जा चुका है। समर्थन के लिए कुछ छंद नीचे उद्धृत किए जाते हैं। इनसे विहारी की उक्तियों को मिलाइए तो पता लगेगा कि विहारी कहीं-कहीं थोड़ा-सा संस्कार करके ही इन उक्तियों का अनुसरण कर रहे हैं।

भण को ण रुस्सइ जणो पत्थिज्जत्तो अणुसकालग्गि ।

रतिवाअडा रुअन्तं पिअं वि पुत्तं सवइ माआ ॥ †

—गाथासप्तशती, ४-१०० ।

सोएवा पर वारिआ पुप्फवईहिं समाणु ।

जग्गेवा पुणु को धरइ जइ सो वेउ पमाणु ॥ ‡

—हैमचंद्र ।

❀ राममन्मथशेरण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।

गन्धवद्रु धिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसति जगाम सा ॥—रघुवंश, ११-२० ।

† भण को न रुष्यति जनः प्रार्थ्यमानोऽदेशकाले ।

रतिव्यापृता रुदन्ता प्रियमपि पुत्रं शपते माता ॥

(बेमौके मोंग बैठनेवाले पर कौन रुष्ट नहीं होता ? रति में संलग्न माता प्यारे पुत्र को बीच में रो उठने से मार बैठती है ।)

‡ पुष्पवतियों के साथ सोना वर्जित है। किंतु जागने पर कौन पकड़ता है,

साधारण जीवन के प्रकृत काव्य-क्षेत्र में पहुँचकर कवियों की वाणी की यह लीला कितनी भद्दी है ! पर ऐसे उदाहरण मिलते ही हैं । ऊपर बिहारी ने रति और वात्सल्य का जैसा संयोग दिखाया है उससे कुछ परिमार्जित भाव की एक गाथा देखिए—

एकौ पल्लवइ थगो बीओ पुलणइ णहमुहालिहिओ ।

पुत्तस्स पिअअमस्स अ मज्झगिसण्णाएँ घरणीए ॥

—गाथासप्तशती, ५-६ । ❀

यहाँ बिहारी के पूर्वोक्त दोहे की भाँति दोनों को धोल नहीं ढाला गया है, पृथक्-पृथक् ही रखा गया है । इसलिए इसे उतना भद्दा नहीं कहा जा सकता ।

यदि वेद प्रमाण है । अर्थात् पुष्पवती के साथ सोना मना है, जागना नहीं ।

इसीसे मिलता-जुलता एक गाथा भी है—

लोओ जूरइ जूरउ वअणिज्जं होइ होउ सत्ताम ।

एइ णिमज्जसु पासे पुप्फइ ण एइ मे णिइ ॥

—सरस्वती-कंठाभरण, ३-२६ ।

(लौंग खोँके तो खोँके, मेरी निंदा हो तो हो । हे पुष्पवती, तू आ मेरे पास लेट, मुझे नींद नहीं आता ।)

[—देखो पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी का 'पुरानी हिंदी' नामक लेख—ना० प्र० प०, सं० १६७८]

❀ एकः प्रसूति स्तनो द्वितीयः पुलकितो भवति नखनुखालिखितः ।

पुत्रस्य प्रियतमस्य च मध्यनिषण्णाया गृहिण्याः ॥

(पुत्र और प्रियतम के बीच में बैठा हुई गृहिणा के एक स्तन से तो दूध चू रहा है और दूसरा सिर पर नख के लेख से पुनर्कृत हो रहा है ।)

बिहारी की शृंगार-भावना का स्वरूप देखने के लिए दूसरा उदाहरण लीजिए । एक गर्भिणी स्त्री को देखकर कवि के हृदय में क्या भाव उत्पन्न होते हैं—

दृग धिरकौहैं अधखुलैं, देह-थकौहैं ढार ।

सुरत-सुखित-सी देखियति, दुखित गरभ कैं भार ॥

—बिहारी-सतसई, ६६२ ।

यहाँ बिहारी गर्भिणी की मुद्राओं एवं अनुभावों का वर्णन अवश्य करते हैं, पर वे देखते हैं उसे 'सुरत-सुखित-सी' । यदि वे ऐसा न करते तो रसिकों के लिए अवश्य चमत्कार न होता । क्योंकि मुद्राओं की उभयनिष्ठता के कारण जो एक चमत्कार आ रहा है उसकी खूबी दिखाने का उन्हें अवसर न मिलता । ऐसी ही एक गाथा देखिए—

ण वि तह अङ्गरुण वि तम्मइ हिए भरेण गन्धस्स ।

जह विपरीअणिहुअणं पिअम्मि सोल्ला अपावन्ती ॥ॐ

—गाथासप्तशती, ५-८३ ।

बिहारी बेचारे ने तो केवल 'सुरत-सुखित-सी' की उत्प्रेक्षा मात्र की थी, यहाँ तो गर्भिणी बेचारी का गर्भजन्य शैथिल्य विपरीत की अप्राप्ति के शैथिल्य के सामने कुछ है ही नहीं ।

इसी सिलसिले में एक बात और है कि बिहारी की जो शृंगार-भावना यथास्थान दिखाई पड़ती है वह वैसी बीभत्स नहीं है जैसी पुराने कवियों की या हिंदी के प्रथम आचार्य केशवदासजी

ॐ नापि तथातगुरुकेणापि ताम्यति हृदये भरेण गर्भस्य ।

यथा विपरीतनिधुवनं प्रिये स्तुषा अप्राप्नुवती ॥

(नायिका गर्भ के अत्यंत भारी बोझ से वैसी 'भाई' नहीं खा रही है, जैसी विपरीत के आनंद के न प्राप्त होने से ।)

की है। बिहारी को शृंगार में ही सब कुछ कहना था, इसलिए उन्हें अन्य भावों को अलग दिखाने का अवसर ही नहीं था। शृंगार ही में सब कुछ कहने की आवश्यकता इसीलिए पड़ी की इसके अतिरिक्त और कुछ सुनने के लिए कोई प्रस्तुत भी नहीं था। साथ ही मुक्तकों की परंपरा से भी परेशानी थी, जिसमें शृंगार के अतिरिक्त करुण के कुछ थोड़े से उदाहरण मिलते हैं अवश्य, पर अन्य रसों के नहीं के बराबर। ❀ भक्ति के उद्रेक के उदाहरण जो बिहारी ने रखे हैं वे संभवतः उन्होंने दूसरों को सुनाने के लिए नहीं प्रस्तुत किए, वरन् अपने हृदय की वेदना को व्यक्त करने के लिए लिखे हैं। नीति के दोहे बिहारी ने लिखे ही कम और नीति की उक्तियाँ रस का संचार करनेवाली मानी भी नहीं जाती, इसलिए इन्हें केवल शृंगार-ही-शृंगार कहना था। पर इन्होंने इस घोर शृंगार का जो कुछ भी लक्ष्य कराया है, उसमें विपरीत के परंपरा-प्राप्त उदाहरणों के अतिरिक्त इन्होंने अपने को बहुत संयत रखने का भी प्रयत्न किया है। ऊपर बिहारी के जो कुछ उदाहरण दिए गए हैं, वे परिष्कृत रूप में ही हैं, उनमें वैसा भद्दापन नहीं है जैसा गाथाओं में। बिहारी की इस वृत्ति का स्वरूप समझने के लिए एक उदाहरण और लीजिए—

हेरि हिंडोरैं गगन तैं परी परी-सी दृष्टि ।

धरी धाड़ पिय बीच ही, करी खरी रस लृष्टि ॥

—बिहारी-सतसई, ६६ ।

❀ कुछ वीर रस के छंद भी पाए जाते हैं। देखो ना० प्र० प०,
भाग २, अंक २ ।

इसमें 'करी खरी रस लूटि' का आना शृंगार की ओरता के ही कारण है, अन्यथा कोई भूले पर से गिर पड़े तो उस समय एक प्रकार की व्यग्रता रहती है, यह तो नट-बाजीगरों का-सा खेल हो गया। फिर भी 'करी खरी रस लूटि' को केवल 'संतोष की साँस' समझना चाहिए। किसी प्रिय के वच जाने पर प्रेमी को आनंदित होना ही चाहिए। किंतु केशव की वृत्ति ऐसे ही प्रसंगों में कैसी थी, देखिए—

जानि आगि लागी वृषभानु के निकट भौन,
 दौरि ब्रजवासी चढ़े चहुँ दिसि धाइ कै ।
 जहाँ तहाँ सोर भारी भीर नर-नारिन की,
 सब ही की लूटि गई लाज यहि भाइ कै ॥
 ऐसे में कुँवर कान्ह सारी सुक बाहिर कै,
 राधिका जगाई और युवती जगाइ कै ।
 लोचन बिसाल चारु चिबुक कपोल चूमि,
 चंपे कैसी माला लाल लीन्ही उर लाइ कै ॥

—रसिकप्रिया, ५-३२ । ❀

यहाँ पर परिस्थिति ऐसी नहीं है जो शृंगार की भावना, उद्दीप्त करने में सहायक हो। इस प्रकार सभी परिस्थितियों के बीच नायिका को 'चंपे की माल' बनाते फिरना रसिकता की हद है !

❀ केशव की ऐसी ही भद्दी रुचि के लिए 'रसिकप्रिया' का पाँचवा और बारहवाँ 'प्रकाश' विशेष रूप से देखना चाहिए। कहीं-कहीं तो केशव ने प्रेम की भावमग्नता दिखाने के लिए नायिका को प्रेतिनी तक बना डाला है (देखो, प्रकाश ७, छंद ३५)। 'कीन्ही-मन भाई' या 'किए मन भाए' से कम की बात तो केशव ने कहीं रखी ही नहीं।

भाव के निरूपण में या उसे स्फुट करने के लिए परिस्थिति भी आवश्यक होती है। यदि उसका विधान न हो तो भाव-व्यंजना ठीक ठीक नहीं हो सकती। कम से कम इस बात का विचार तो रखना ही होगा कि विरोधी परिस्थिति का उल्लेख तो नहीं हो रहा है। इसे चाहे 'उद्दीपन' कहें चाहे वस्तु-विधान, पर परिस्थिति के औचित्य पर ध्यान देना ही होगा, क्योंकि आलंबन के औचित्य के साथ-साथ उसका औचित्य भी आ जाता है। केशव ने इसका विचार नहीं रखा है।

यहाँ पर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि बिहारी में जो ऐसी भावनाएँ आई हैं वे प्रेम का विस्तार दिखाने के लिए ही, पर प्रेम का विस्तार दिखाने के लिए जहाँ आधार ठीक नहीं बन पड़ा, वहीं ऐसी त्रुटि दिखाई पड़ती है, अन्यथा अन्यत्र उनकी शृंगार-भावना उत्तम बन पड़ी है; केवल एक उदाहरण लीजिए—

उड़ति गुड़ी लखि ललन की, अँगना अँगना माँह ।

बौरी लौं दौरी फिरति, छुवति छबीली छाँह ॥

— बिहारी-सतसई, ३७३ ।

यहाँ पर प्रियतम की गुड़ी की छाया के साथ-साथ घूमने की उक्ति में, कवि की अवेक्षण-शक्ति की ही नहीं, प्रेम के विस्तार की भी दिव्य झलक मिलती है, क्योंकि जिससे प्रेम होता है उसकी प्रत्येक वस्तु प्रेमी के लिए प्रेम का आलंबन हो जाती है। इस प्रकार के विस्तार के उदाहरण बिहारी में बहुत अधिक तो नहीं हैं, पर प्रेम के इस स्वरूप को कवि ने पहचाना है और उसको यथास्थान वर्ण्य विषय बनाया है, इसलिए यह कहना पड़ेगा कि बिहारी प्रेम के प्रकृत स्वरूप से दूर भी नहीं थे।

इसके अतिरिक्त बिहारी की कविता में बाहरी अथवा मुसलमानी

प्रभाव के कारण भी प्रेम के स्वरूप में कुछ ऐसी बातें आई हैं जो भारतीय रस-पद्धति के प्रकृत स्वरूप के मेल में नहीं हैं और भाव के वास्तविक निरूपण को दृष्टि में रखने से कुछ हलकी जान पड़ती हैं। ये भावनाएँ हलकी इसलिए जँचती हैं कि फारसी आदि की कविता में प्रेम का जो स्वरूप लिया गया है वह केवल एकांगी ही नहीं है, बल्कि प्रेम की तीव्रता दिखाने के लिए दूसरे पक्ष (प्रिय) को प्रथम पक्ष (प्रेमी) का तिरस्कार करनेवाला भी दिखाया गया है। इस तिरस्कार के भीतर मार-काट तक का घोर वर्णन आता है जो भारतीय पद्धति के अनुसार रस के विरुद्ध पड़ता है। वहाँ खंजर चलना तो एक साधारण बात है, जनाजा तो रोज ही निकला करता है। इस एकांगी प्रेम के ऐसे स्वरूप का कारण यह था कि वे लोग लौकिक प्रेम के भीतर ईश्वरी प्रेम की भी बातें लक्षित कराने का प्रयत्न करते थे। ईश्वरोन्मुख प्रेम का आदर्श दिखाने के लिए तुलसीदास ने भी चातक का प्रेम लिया है, जिसमें दूसरा पक्ष उदासीन है, पर उन्होंने भारतीय प्रेम-पद्धति को ध्यान में रखकर चातक की प्रेम-प्रवणता का ही अधिक वर्णन किया है, बादल की कठोर का बहुत कम। विदेशी प्रेम के आदर्श के सामने आ जाने पर लोगों ने उसका ग्रहण भीषण रूप में भी किया, कुछ लोगों ने तो ऐसे ऐसे वर्णन रखे हैं कि उन्हें भारतीय खोल में विदेशी भाव ही कहना पड़ता है। जैसे रसलीन की रचना। पर जो लोग भारतीय पद्धति के जाननेवाले थे उन्होंने धोखा नहीं खाया, उन्हें ग्रहण करके भी ऐसे ढंग से रखा कि वे भारतीय रस-परंपरा के भीतर ही दिखाई पड़ सके। बिहारो की इस ढंग की कविताएँ ऐसी ही हैं। एक उदाहरण लीजिए—

छुटन न पैसु छिनकु बसि, नेह-नगर यह चाळ ।

मान्यौ फिरि फिरि मारियै, खूनी फिरै खुस्याल ॥

—बिहारी-सतसई, ३२५ ।

यहाँ मारा हुआ बारंबार मारा जाता है और खूनी प्रसन्नता-पूर्वक घूमता है । इस उक्ति में विदेशी प्रभाव तो स्पष्ट है, पर खून-खच्चर और कटार-खंचर का विस्तार नहीं है, इसलिए यह कहना पड़ता है कि बिहारी ने विदेशी भाव को भारतीय पद्धति के भीतर ही रखा है, क्योंकि कटाक्षादि के लिए हृदय में घर करने की बात को दृष्टि में रखकर बाण आदि कहना भारतीय पद्धति ही है, पर बाणों के अन्य कार्यों को लेकर तमाशा खड़ा करना भारतीय पद्धति के विरुद्ध है । किंतु रसलीनजी का एक उदाहरण लीजिए—

जेहि मग दौरत निरदई, तेरे नैन कजाक ।

तेहि मग फिरत सनेहिया, किए गरेबाँ चाक ॥

—रतनहजारा, २४६ ।

यही मजमून अगर शेर में बाँध दिया जाय, तो उर्दू के अन्य शेरों से इसमें कोई फर्क न रह जायगा । दो-तीन शब्द भी बाहरी ही रखे गए हैं । रसलीन की सारी रचना बाहरी प्रभाव से बहुत प्रभावित है । बिहारी में ऐसा प्रभाव सहसा लक्षित नहीं होता । उन्होंने उसे मौजकर भारतीय रूप में ऐसा मिलाया है कि जोड़ झलकता ही नहीं । यह भी बिहारी की अन्य तत्कालीन कवियों से एक विशिष्टता ही थी । वे अपनी देशी परंपरा को छोड़कर कभी अलग खड़े नहीं हुए ।

बिहारी में विरह की जो उद्घात्मक उक्तियाँ मिलती हैं, उनपर

भी बाहरी प्रभाव पड़ा है, पर कवि ने उन्हें अपनी देशी परंपरा से मिलाए रखा है। संस्कृत में भी कुछ कविताएँ ऊहात्मक मिलती हैं, पर वे कविताएँ भी परवर्ती कवियों की ही हैं, विहारी उन्हीं के मेल में चले हैं।

इसी संबंध में एक बात और ध्यान देने योग्य है। हिंदी में इस श्रृंगारकाल में कुछ कवियों ने प्रेम की स्वतंत्र रचनाएँ भी की हैं, जैसे रसखान, घनानंद, ठाकुर आदि। इन कवियों में प्रेम की जो अनोखी व्यंजना मिलती है, विशेषतः वियोग पक्ष की भावुकता-भरी उक्तियाँ, वे विदेशी प्रभाव से भी प्रभावित हैं, पर सबने उन्हें भारतीय पद्धति के भीतर ही रखने का प्रयत्न किया है। कुछ मुसलमान भी हिंदी में कविता करने लगे थे। इनमें से परंपरा पर जिसने ध्यान दिया उसने तो अपने कथन को विदेशी प्रभाव से बहुत कुछ बचा लिया, पर जिनकी दृष्टि उधर नहीं जा सकी वे वैसी उक्तियाँ भी लिखते रहे। जायसी ने भी वैसी उक्तियाँ लिखी थीं। पर रसखान ऐसे कवि जो भारतीय रंग में रँग गए थे, इससे बहुत कुछ बच गए। इस संबंध में और विचार आगे किया जायगा क्योंकि हमें वहीं लौटने हैं।

मुक्तक-रचना

मुक्तक उस रचना को कहते हैं जो अपना अर्थ व्यक्त करने के लिए स्वतः समर्थ हो। ❀ जिस छंद का लगाव पूर्वापर किसी दूसरे छंद से नहीं होता वह अनुबंधहीन स्वच्छंद पर स्वतः अर्थ-द्योतन में समर्थ रचना मुक्तक कहलाती है। प्रबंध की रचना सानुबंध होती है। † उसमें एक प्रवाह होता है। मुक्तक में प्रवाह नहीं होता, वह स्थिर रहता है। मुक्तकों में दो प्रकार की रचनाएँ होती हैं। एक को सरस या रसयुक्त कहना चाहिए और दूसरी को नीरस या रसविहीन। यहाँ रसविहीन कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि वे चमत्कार-विधायक भी नहीं होतीं। रसविहीनत्व से यहाँ तात्पर्य भाव को छोड़कर अन्य रचनाओं से है। प्रबंध में भी सरस और नीरस दो प्रकार की रचनाएँ होती हैं, पर प्रबंध में धारा होती है इसलिए उस धारा में मिलकर नीरस पद भी सरस हो जाते हैं। जैसे गंगा की धारा में सभी प्रकार के गंदे जल मिलकर गंगा की पूत धारा का प्रभाव ग्रहण कर लेते हैं उसी प्रकार प्रबंध की धारा में मिलकर नीरस रचना भी सरस हो जाती है। पर मुक्तक स्वच्छंद रचना होती है, इसलिए उसकी नीरस कविता अनुगुणत्व को प्राप्त कर सरस हो ही नहीं सकती। वह जैसी होती है वैसी ही बनी रहती है। यह बात एक उदाहरण से साफ हो जायगी।

❀ मुक्तकं श्लोक एवैकश्वमत्कारचमः सताम्—अग्निपुराण ।

† सर्गबन्धौ महाकाव्यम्—साहित्यदर्पण ।

तुलसीदासजी का 'रामचरित-मानस' एक प्रबंध-काव्य है, उसमें सरस और नीरस सब प्रकार की रचनाएँ हैं, पर उसके नीरस पद भी अपना महत्त्व रखते हैं। वे प्रसंग के अनुरोध से यथास्थान बैठकर रस की व्यंजना करने में सहायक होते हैं। इसलिए उन्हें सरस ही कहा जायगा। पर रामचरित-मानस के ऐसे ही रस-गुणोत्तर कितने ही दोहे उनके मुक्तक-संग्रह 'दोहावली' में भी संगृहीत हैं। दोहावली में उन रसगुणोत्तर रचनाओं को नीरस ही कहा जायगा, क्योंकि वे वहाँ स्वतः कोई रस-व्यंजना नहीं करतीं और न उन्हें रस-व्यंजना में सहायता पहुँचाने का अवसर ही प्राप्त होता है। एक दोहा लीजिए—

सरनागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि ।

ते नर पाँवर पापमय, तिनहिं बिलोकत हानि ॥

—दोहावली ।

यह दोहा दोहावली में भी है और रामचरित-मानस में भी। दोहावली में यह केवल तथ्य अथवा नीतिकथन के रूप में है। केवल कवि शरणागत की रक्षा न करनेवालों को पापी तथा मुँह न देखने योग्य बतला रहा है। इस नीति-काव्य को प्राधारणतया पढ़ने से किसी के हृदय में भावोद्रेक नहीं हो सकता। इसलिए यह केवल नीतिकथन ही रहेगा, भावोद्रेक में सहायक नहीं होगा। पर रामचरित-मानस में यह दोहा रामचंद्रजी ने उस समय कहा है, जब विभीषण उनकी शरण में आया है और उनके पार्षद उन्हें शत्रु-पक्ष के व्यक्ति को शरण में लेने से मना कर रहे हैं। उस प्रसंग के भीतर इस दोहे को भाव की व्यंजना करने का अवसर प्राप्त है। उस अवसर पर इसे पढ़कर हृदय में राम की

शरणागतपालकता का भाव पाठक के हृदय में उठ सकता है या उठता है । माना कि इस प्रकार के नीतिकथन कवि अपनी सांसारिक अनुभूति को आधार बनाकर ही मुक्तक-रचना में रखते हैं, पर उनके लिए तब तक भावोद्रेक की जगह नहीं मिलती, जब तक पाठक के चारों ओर उस प्रकार का या उसके अनुकूल वातावरण उपस्थित न हो । यदि कोई व्यक्ति शरणागत के पालन से विमुख हो रहा हो, ऐसी परिस्थिति में यह दोहा कहा जाय तो संभव है कि परिस्थिति के संयोग से यह रचना भाव को जगाने में सफल हो सके । सामान्यतया ऐसी रचना केवल नीतिशास्त्र के शुष्क उपदेशों में ही गृहीत होगी ।

इसी अवसर पर यह भी विचारणीय है कि मुक्तकों में व्यंजना का विस्तार कैसी परिस्थिति में बढ़ता है । मुक्तक-रचना यद्यपि निरपेक्ष भाव से रची जाती है, पर उसमें जीवन का कोई चित्र लेकर अथवा व्यंग्य का आधार लेकर ही कुछ कहा जाय तो इस प्रकार के कथनों का प्रभाव शुष्क कथनों की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ जाता है । दूर जाने की आवश्यकता नहीं । बिहारी ने जयसिंह को जिस दोहे के द्वारा शृंगार के दलदल से बाहर निकाला उसी पर विचार कीजिए । यदि बिहारी केवल यह कहते कि नवोढ़ा के प्रेम में मुग्ध होकर सब काम-काज छोड़ देनेवाले की बड़ी दुर्दशा होती है तो शायद उस दोहे का असर उन पर वैसा न पड़ता या पड़ता ही नहीं । पर प्रभावोत्पादकता के लिए बिहारी ने प्रकृति के भीतर से एक खंडचित्र लेकर उसका चित्रण किया और उसका प्रभाव राजा पर जैसा पड़ा, वह प्रत्यक्ष है । यह कहने का अभिप्राय यही है कि जब तक मुक्तक में जीवन

या जीवन के आनुषंगिक व्यापारों के मेल में आनेवाला खंडचित्र लेकर कोई बंधान न बाँधा जायगा तब तक उसमें न तो सरसता ही आ सकती है और न वह अवसर के प्राप्त होने पर वैसा प्रभावशाली ही हो सकता है। मुक्तकों की रचना में जो कवियों की प्रशंसा की गई है, वह केवल इसीलिए कि उन्होंने जीवन के ऐसे-ऐसे अनुवृत्त लिए हैं जो रसमग्न कर सकते हैं अथवा भावोद्रेक करने में सहायक हो सकते हैं, इसलिए नहीं कि उन्होंने कोई सुंदर नीति-वाक्य कहा है। इतना ही नहीं मुक्तकों में अनुवृत्तों का चुनाव इतना साफ होना चाहिए कि पाठक उस तक शीघ्र पहुँच सके और यह चुनाव भी सामान्य जीवन-क्षेत्र से ही होना चाहिए, जिससे उसमें सबको अनुरंजन करने की सामर्थ्य हो। जिन मुक्तकों में प्रसंग के आक्षेप में कठिनाई पड़ती है और नाना प्रकार के प्रसंगों का आक्षेप संभाव्य होता है, उन्हें मुक्तकों की दृष्टि से उतना उत्तम नहीं कहा जा सकता। संस्कृत के 'अमरु-शतक' में कवि ने ऐसे-ऐसे सरस प्रसंगों की योजना की है कि पाठक उसे पढ़ते ही रसमग्न हो जाता है। उसके प्रसंग के इस चुनाव को दृष्टि में रखकर संस्कृत के प्रसिद्ध आचार्य आनंदवर्धन ने कहा है कि "अमरुककवेरेकः श्लोकः प्रबन्धशतायते।" ❀ इसका तात्पर्य यही है कि उन प्रसंगों में रसमग्न करने की शक्ति बहुत अधिक है। यह नहीं कि उनसे विभिन्न अनुवृत्तों की व्यंजना होती है। हिंदी में सूरदास का सूरसागर और तुलसीदास की कवितावली, गीतावली, श्रीकृष्णगीतावली आदि भी मुक्तक-रचनाएँ

ही हैं। उनके प्रत्येक पद्य निरपेक्ष हैं। उनमें प्रबंध-काव्यों की-सी रसमग्नता इसीलिए है कि उनमें ऐसे चित्र लिए गए हैं जो मर्म-स्थल पर चोट करनेवाले हैं, चित्त के भावों को बहुत शीघ्र उद्बुद्ध करनेवाले हैं। तुलसीदासजी की गीतावली में इस दृष्टि से राम-चरित-मानस की अपेक्षा अधिक सरसता है, क्योंकि उसमें कोमल भावों को उद्दीप्त करनेवाले प्रसंगों का ही चुनाव करके कुछ कहा गया है। इसलिए वे बड़े उत्तम कहे जा सकते हैं। अन्य मुक्तक-काव्यों से इनमें एक बात का अंतर अवश्य पड़ता है। अन्य मुक्तकों में किसी विशेष कथा में से ही मर्मस्पर्शी प्रसंगों का चुनाव नहीं किया जाता है, पर इन कवियों ने राम और कृष्ण के चरित्र के ही उन उन रससिक्त प्रसंगों को चुना है। इसीलिए उनमें कथा का एक स्थूल रूप से क्रम भी बैठा रहता है। कुछ लोग भ्रमवश ऐसे ग्रंथों को भी प्रबंध-काव्य कह दिया करते हैं। उनके भ्रम का कारण है केवल एक ही कथा से वार्ण्य प्रसंगों का लिया जाना। पर स्मरण रखना चाहिए कि ये रचनाएँ सानुबंध नहीं कहला सकतीं।

मुक्तकों की रसमग्नता की चर्चा उठ गई, इसलिए लगे दार्थों एक बात पर और भी विचार कर लेना चाहिए। रस-व्यंजक मुक्तकों और सूक्तियों में क्या अंतर होता है, यह भी जान लेना आवश्यक है। क्योंकि बिहारी-सतसई के ढंग की जो मुक्तक-रचनाएँ मिलती हैं उनमें रस-व्यंजक रचनाओं और नीति-कथनों के अतिरिक्त सूक्तियाँ भी मिलती हैं। सूक्तियाँ किसी रस या भाव की व्यंजना या उद्रेक नहीं करतीं, वे केवल चमत्कार-विधायक होती हैं। काव्य के चरम लक्ष्य को दृष्टि में रखकर यद्यपि सूक्तियाँ काव्य की आदर्श रचनाएँ नहीं कही जा सकतीं, पर

चमत्कार का विधान करने के कारण उन्हें भी काव्य की कुछ नीची कोटि में रखना ही पड़ेगा । ऊपर जो सरस और नीरस नाम से मुक्तक के दो प्रकार कहे गए हैं उनमें नीरस रचनाओं के भीतर ऐसी चमत्कार-विधायक और साथ ही नीति की भी कुछ उक्तियाँ आ सकती हैं । पर नीति की सभी उक्तियाँ अथवा शुष्क नीति का प्रवचन करनेवाली रचनाएँ काव्य नहीं कहला सकती । यदि ऐसी ऐसी उक्तियों को काव्य के भीतर माना जायगा, तो फिर चाणक्य के नीतिवाक्य भी काव्य ही कहे जायेंगे ; पर उन्हें कोई काव्य नहीं कहता । इसलिए सूक्तियाँ उन कथनों से सर्वथा अलग हैं ।

हिंदी में इस प्रकार की मुक्तक-रचना करनेवालों ने अधिकांश नीतिवाक्य कहे हैं । केवल तथ्यकथन काव्य का लक्ष्य नहीं है । दृष्टांत आदि की योजना से अलंकार का चमत्कार उत्पन्न हो जाने से लोग भले ही उन्हें काव्य के भीतर मानें, पर काव्य के शुद्ध लक्ष्य से वे च्युत हो समझी जायँगी । पर सूक्तियाँ वैसी नहीं होती । उनमें कोई भाव न हो, पर वचन की वक्रता अवश्य रहती है । इस वचन की वक्रता को काव्य की एक निम्न कोटि के भीतर ग्रहण कर लेना बुरा नहीं है । कविता और सूक्ति का अंतर साफ करने के लिए कुछ उदाहरणों की आवश्यकता है ।

सटपटाति-सैं ससिमुखी, मुख धूँघट-पटु ढाँकि ।

पावक-क्षर-सी क्षमकि कै, गई क्षरोखा क्षाँकि ॥

—बिहारी-सतसई, ६४६ ।

इसमें नायिका की अभिलाष दशा का चित्रण है, वह लपक-कर भरोखे से नायक की छवि देख जाती है । और लोग कहीं मुझे इस प्रकार झाँकते देख न लें, इसलिए वह सटपटाती-सी है,

लज्जा के कारण वह झँकने से हिचकती है । मुख को घूँघट में भली भाँति छिपा लेती है । इसमें यदि रसाभ्यासी रस के चारों अवयव ढूँढकर रस की स्थापना करना चाहें तो वे भी उन्हें साफ-साफ मिल जायेंगे । अनुभावों की सम्यक् योजना है ही, जो विहारी की एक बहुत बड़ी विशेषता है । संचारी त्रास, व्रीडा, उत्सुकता आदि भी प्रत्यक्ष हैं । अभिलाष दशा की व्यंजना है । इसके पढ़ने से भावोद्रेक में सहायता मिलती है, रसमग्नता इस दोहे में पूरी है । अतः यह काव्य के लक्ष्य के अनुसार कविता का ठीक उदाहरण है । अब एक सूक्ति का उदाहरण लीजिए—

कनकु कनक तैं सौगुनौ मादकता अधिकाइ ।

उहिं खाएँ बौराइ इहिं, पाएँ ही बौराइ ॥

— विहारी-सतसई, १६२ ।

इस दोहे में कवि दिखाना यह चाहता है कि सोने के पाने से मनुष्य मदमत्त हो जाता है । इस मादकता की व्यंजना के लिए वह युक्ति से काम लेता है और कहता है कि कनक धतूरे को भी कहते हैं और सोने को भी । धतूरे के खाने से घोर नशा होता है, यह प्रसिद्ध बात है । पर नशा धतूरे के खाने से चढ़ता है, छूने मात्र से नहीं । यदि किसी वस्तु के छूने से ही नशा चढ़ने लगे तो अवश्य उस वस्तु में मदमत्त करने की शक्ति धतूरे से अधिक मानी जायगी । यही बात इस सोने में है । जो इसे पा जाता है वही मदमत्त हो जाता है, पागल हो जाता है । इसलिए धतूरे से इसमें बहुत अधिक मादकता है । सोना मनुष्य को बहुत अधिक मतवाला कर देता है, यह सिद्ध हुआ । इस युक्ति में कोई भाव नहीं है, किसी रस की व्यंजना नहीं है । एक तथ्य का चतुराई के साथ

समर्थन किया गया है। इस चतुराई की कहन में एक चमत्कार है, विलक्षणता है। इसी विलक्षणता के कारण इसे सूक्ति कहा जायगा। इसे आलंकारिक काव्यलिंग आलंकार का उदाहरण मानेंगे। पर किसी भाव का उद्रेक न करने के कारण यह उक्ति कविता की कोटि में न जाकर केवल सूक्ति की ही कोटि में रहेगी। इस प्रकार के चमत्कार-विधायक कथन हिंदी के अन्य मुक्तक-रचयिताओं में तो अधिक हैं, पर बिहारी में कम ही। एक और उदाहरण लीजिए—

नर की अरु नल-नीर की, गति एकै करि जोइ ।

जंतौ नीचौ द्वे चले, तेतौ ऊँचौ होइ ॥

—बिहारी-सतसई, ३२१ ।

इस दोहे में नम्रता की प्रशंसा की गई है। यह बतलाया गया है कि नम्रता होने से मनुष्य ऊँचा हो जाता है, बड़ा बन जाता है। इस बात को समझाने के लिए कवि ने 'नल-नीर'—नल के जल या फुहारे के नल के पानी—की स्थिति सामने रखी गई है। नल में पानी जितने नीचे से होकर आता है, वह उतना ही ऊपर तक चढ़ सकता है। इसलिए जो मनुष्य जितना ही नम्र होगा वह उतना ही बड़ा प्रमाणित होगा। यहाँ भी कोई भाव नहीं है। नम्रता का स्वरूप समझाने के लिए नल-नीर का दृष्टांत सामने रखा गया है। ऐसे उदाहरण सूक्ति ही हैं। इन उदाहरणों में भी यह बात बराबर देखी जा सकती है कि बिहारी ने केवल शुष्क कथन कहकर उसे नीति की राजशास्त्रीय उक्ति नहीं बनाया है। उन्होंने बराबर किसी ऐसे दृष्टांत या युक्ति से काम लिया है जो उस तथ्य की सार्थकता को प्रमाणित करने में सहायता पहुँचाए। इसी वक्रता के

कारण बिहारी में सूक्तियाँ तो पाई जाती हैं, पर कोरे नीति-कथन नहीं। यह भी बिहारी की अन्य मुक्तक-रचयिताओं से एक विशिष्टता है।

बिहारी ने सूक्तियों के अतिरिक्त जो रसमय रचना की है उसके संबंध में यह जान लेना आवश्यक है कि प्रसंगों की उद्घाटन करने में ये बड़े प्रवीण थे। यह बात तो हम अवश्य स्वीकार करते हैं कि प्रेम के विस्तृत क्षेत्र में बहुत दूर तक धावा मारने का उद्योग बिहारी ने नहीं किया, कुछ बँधे हुए ही प्रसंगों को लेकर अपनी कला दिखाई, पर यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि उन्होंने इन बँधे प्रसंगों के भीतर भी जैसे सरस संदर्भों का आश्लेष किया है वह उनकी प्रतिभा और उपज के द्योतक हैं। इसी कारण बिहारी की रचना लोगों को बहुत दिनों तक रसमग्न करती रही। यद्यपि रीतिशास्त्र की लकीर पीटनेवाले कवियों की तरह बिहारी ने बँधकर अपनी रचना नहीं की, पुरानी मुक्तक की परंपरा पर ही स्वच्छंद रूप से अपने को उड़ने दिया, किंतु फिर भी समय का प्रभाव उनपर पड़ा ही, क्योंकि रीतिशास्त्र की लकीर से सटकर चलते हुए वे बराबर ललित होते हैं। रसखान, घनानंद, ठाकुर आदि ने प्रेम की वेदना और आधिक्य को लेकर जैसा उसका विस्तार दिखाया वैसा विस्तार भी बिहारी में थोड़ा-बहुत बराबर मिलता है, पर साथ ही रीति के कवियों की भी होड़ करनेवाली कविता उनमें बहुत पाई जाती है। इसका कारण था उस समय की रुचि। पहले हम कह आए हैं कि नायिकाभेद का और हाव-भावों का विश्लेषण उस समय के लोगों का एक व्यसन हो गया था। इसलिए बिहारी को भी उसके अनुकूल चलना ही पड़ा।

मुक्तकों के इतने अधिक प्रचार का भी कारण राजदरबारों की एक प्रवृत्ति थी, जिससे लोग थोड़ी देर के लिए रसमग्न होने तथा चमत्कृत होने को प्रबंध की धारा में मग्न होने की अपेक्षा उत्तम समझते थे । हिंदी में प्रबंध-काव्यों का अभाव और नाटकों की कमी का कारण यही लोकरुचि थी । क्योंकि कल्पना की टेढ़ी-मेढ़ी उड़ान दिखाने या देखने का उतना अवसर उसमें नहीं था, जितना मुक्तकों में । मुक्तकों को काव्य का चरम लक्ष्य नहीं माना जा सकता, यह हम पहले ही कह चुके हैं । प्रबंध के क्षेत्र में ही काव्य का प्रकृत उद्देश्य पूर्ण होता है । प्रबंध एक वनस्थली है और मुक्तक एक गुलदस्ता । ❀ वनस्थली की शोभा स्थायी है । वह गुलदस्ता की भाँति क्षणिक नहीं है । पर हिंदी में बहुत-से लोग यह भी लिखते और कहते देखे-सुने जाते हैं कि मुक्तक-रचना प्रबंध की अपेक्षा अधिक श्रम-साध्य है । ऐसी बातें काव्य का प्रकृत स्वरूप अथवा लक्ष्य न पहचानने के ही कारण कही जाती हैं, इसमें संदेह नहीं । इसलिए प्रबंध की रचना करने में जो कवि समर्थ हो वही रससिद्ध कवि कहा जायगा । मुक्तक-रचना के द्वारा रसबंधाभिनिवेश करनेवाले कवि उतने बड़े नहीं कहे जा सकते । पर साथ ही प्रबंध की रचना करने में समर्थ होने का तात्पर्य केवल कथा का एक ढाँचा खड़ा कर देना मात्र नहीं है । यदि कोई केशव की भाँति प्रबंध का सहारा लेकर केवल मुक्तकों का संग्रह करने लगे तो उससे सूरदास ऐसे मुक्तक-रचना-कार ही अच्छे, जो प्रबंध का सहारा लेकर सानुबंध कथा न

लिखते हुए भी एक स्थूल धारा या प्रवाह-सा प्रस्तुत कर देते हैं । इसी प्रकार मुक्तक-रचना करनेवालों में वृंद आदि कवियों को आदर्श नहीं माना जा सकता । रस का अभिनिवेश करनेवाले कवियों को ही सफल मुक्तककार कहा जायगा । जब सब बातों पर विचार करके बिहारी की मुक्तक-रचना पर दृष्टि डाली जाती है, तो यह स्पष्ट लक्षित होता है कि इनकी काव्य-दृष्टि दूर तक थी, काव्य का लक्ष्य पहचाननेवाली थी । प्रसंग-विधान के विचार से नायिकाभेद के ही दायरे में पड़े रहनेवालों की अपेक्षा इनकी रचना बहुत अच्छी है, केवल नीति या सूक्ति कहनेवालों की तो चर्चा ही व्यर्थ है !

बाहरी प्रभाव

किसी देश के लोग जब दूसरे देशवासियों के संपर्क में आते हैं, तो प्रभावित चाहे न हों, पर कुतूहल की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण नकल अवश्य होने लगती है। यदि किसी देश के लोग विदेशी शासकों के संपर्क में आते हैं तो केवल नकल ही नहीं होती, वे प्रभावित भी हो चलते हैं। भारत में विदेशी मुसलमानों के शासन के परिणाम-स्वरूप यहाँ के लोग उनकी नकल करने, उनकी चाल-ढाल से प्रभावित भी होने लगे। धीरे-धीरे उनके यहाँ जम जाने से उनके साहित्य का भी प्रभाव, थोड़ा ही सही, भारतीय साहित्य पर भी पड़ने लगा। पहले तो दोनों ओर के लोगों के बीच एकता का सूत्र बाँधने के प्रयत्न हुए, जिनमें धार्मिक भावनाएँ भी काम कर रही थीं, पर आगे चलकर शुद्ध साहित्यिक प्रभाव भी पड़ने लगा। 'प्रेम की पीर' ने आधुनिक समय में आकर अपना कितना अधिक प्रभाव कर लिया है, इसे आजकल की कविता पढ़नेवाले सभी लोग जानते हैं, क्योंकि कोई भी कवि अपनी भावनाओं की व्यंजना करने के पहले प्रस्तावना के रूप में यह अवश्य कह लेता है कि मेरा एक वेदना का संसार है, मैं पीड़ा की गोद में पला हूँ।

जब मुसलमानी शासकों के पैर यहाँ जम गए और एक-दूसरे में सामंजस्य स्थापित करने के प्रयत्न होने लगे तो दोनों ओर के नेता जनता के बीच इसका प्रचार करने पर उतारू हुए। इस सामंजस्य की स्थापना के लिए 'ईश्वर एक ही है, राम-रहीम में कोई भेद नहीं है', इस प्रकार की उक्तियाँ इधर-उधर सुनाई पड़ने लगीं।

एक-दूसरे में संबंध-सूत्र बाँधने के लिए प्रेम की पुकार मचने लगी, उसकी महत्ता का प्रतिपादन भावुकता के साथ किया जाने लगा । ईश्वर का एकत्व और प्रेम की महत्ता दोनों ऐसे विषय थे जो दोनों ओर के लोगों की विचाराधारा के अनुकूल पड़ते थे । विदेशी लोगों की धार्मिक भावना में सगुण का स्वीकार नहीं था और हमारे यहाँ के दार्शनिक विचार के भीतर निर्गुण की ही प्रधानता थी, यद्यपि व्यवहार के क्षेत्र में सगुण का स्वीकार वे भी करते ही थे । इसलिए उभयनिष्ठता के कारण वे लोग निर्गुण को ही लेकर आगे बढ़े । पर निर्गुण की उपासना का प्रचार करते समय 'निर्गुण को भजो, निर्गुण को ध्याओ' कह देने से ही काम नहीं चल सकता था, क्योंकि निर्गुण की उपासना के लिए कोई आधार तो था नहीं, इसलिए स्वभावतः पहले निर्गुण के लिए नाना प्रकार के कुतूहल-पूर्ण विशेषण लगाए जाने लगे और जीव, जगत् को लेकर बुझाविल के ढंग की उक्तियाँ तक रची जाने लगीं । इसके लिए केवल आलंबन की महानता का प्रतिपादन करने से ही काम नहीं चल सकता । इसी से उस भाव की महत्ता और उसकी तीव्रता का प्रतिपादन होने लगा । यह प्रेम का अतिरेक विदेशियों की धार्मिक प्रवृत्ति के अनुकूल पड़ता था, सूफियों की विरह-वेदना प्रसिद्ध ही है । इसलिए उस वेदना और उसकी तीव्रता की ओर यहाँ के लोग भी झुके । मुसलमानी साहित्य में जो कविता लौकिक आलंबन के प्रति भी होती थी, वह भी ईश्वर की ओर संकेत करनेवाली कही जाती थी । आगे चलकर जब कवि लोग ईश्वर के उस संकेत से हटकर लौकिक प्रेम की व्यंजना में प्रवृत्त हुए तो भी उनकी वह तीव्रता दूर न हुई, कलेजे के जलने से निकले हुए धुएँ से नये आसमान

बनते ही रहे, विरह-ताप से सूर्य तपता ही रहा, सारी सृष्टि आशिक के खून या प्रेम की ललाई से लाल दिखलाई पड़ती ही रही आदि ।

प्रेम की पीर और प्रेम की तीव्रता का प्रदर्शन करने के लिए सिर का उतरना, कलेजे का चाक होना आदि कितनी ही मारकाट की बातें विदेशी साहित्य में आया करती हैं । बहुत-सी बातें तो ऐसी भी होती हैं जो भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से जुगुप्सा उत्पन्न करनेवाली होती हैं और जो इसी विचार से रस-विरोधिनी अर्थात् बीभत्स मानी जाती हैं । जैसे जायसी की ये पंक्तियाँ—

भूँज सरागन्हि वह नित माँसू ।

× × × ×

लागिउँ जरै जरै जस भारू ।

फिरि फिरि भूँजेसि तजिउँ न बारू ॥ आदि

उक्त प्रेम की पीर और तीव्रता की व्यंजना का विदेशी प्रभाव निर्गुण-संप्रदाय के नाम से पुकारे जानेवाले हिंदी के संत कवियों पर तो पड़ा ही, सगुणोपासक भक्तों पर भी थोड़ा-बहुत पड़ा और आगे चलकर प्रेम अथवा शृंगार का वर्णन करनेवाले साहित्यिक कवियों पर भी पड़ने लगा । यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि सगुणोपासक भक्तों को प्रेम के लिए एक आलंबन मिल गया था, इसलिए उनकी जुगुप्सावाली प्रवृत्ति स्वतः कम होने लगी, क्योंकि वे रूप पर मुग्ध होने लगे, और सौंदर्य की भावना के मेल में जुगुप्सा का नाम लेना स्वभावतः बुरा जान पड़ता है । यहाँ तक कि आगे चलकर जब मुसलमान भी भगवान के स्वरूप पर मुग्ध हुए, तो उनमें भी वह प्रवृत्ति नहीं रही । पर उसके अवशेष उनकी कविता में मिलते ही हैं ।

प्रेम की जिस पीर का उद्देख उपर किया गया है, उसकी परंपरा मिलाने के लिए थोड़ा-थोड़ा संकेत कर देने की आवश्यकता प्रतीत होती है। कबीर साहब जब कहते हैं कि—

यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं ।

सीस चढ़ावै भुईं धरै, तब पैठे घर माहिं ॥

तो उनका यह सिर उतरवाना विदेशी प्रभाव के ही कारण है। उन्होंने उपासक की वेदना के संबंध में जितनी बातें कही हैं वे भी विदेशी प्रभाव से ही प्रभावित मानी जायँगी। मीराबाई ने माधुर्य भाव की उपासना ग्रहण की थी, पर बाहरी प्रभाव उनपर भी पड़ा था। सूफियों के प्रभाव से उनकी कविता या भजन प्रभावित हैं या नहीं इसका विश्लेषण करना हमारा उद्देश्य नहीं है, पर इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि उनकी प्रेम की वेदना में विदेशी छाप है अवश्य, और कहीं-कहीं उनके पदों में जुगुप्सावाली विदेशी पद्धति भी मिलती ही है। 'सूली उपर सेज पिया की मिलणो किहि विध होय' से ही इसका पता चल जाता है। यदि इतने से ही किसी को संतोष न हो तो निम्नलिखित पद देखिए—

काढ़ि कलेजो मैं धरूँ रे, कौवा तू ले जाइ ।

ज्याँ देसाँ म्हारो पीव बसै, (सजनी) वे देखै तू खाइ ॥

—मीरा-मंदाकिनी, १-५६ ।

कलेजा काढ़कर दिखलाने तक तो कोई बात नहीं, पर कौए का उसे खाना अवश्य विदेशी छाप है।

कृष्णभक्त ब्रजवासी कवियों में से जिन्होंने भगवान की लीला को गौण रखकर प्रेम का प्रसार दिखाने का प्रयत्न किया है, उनमें से कई में यह आशिकी रंग-ढंग और विदेशी प्रेमपद्धति की झलक

मिलती है, जैसे किसनगढ़वाले नागरीदास में। बहुत आगे चल कर कुंदनशाह आदि में तो उसका अतिरेक हो गया है।

हिंदी की कविता जब कृष्णलीला के भक्ति-काव्य से हटकर शुद्ध साहित्यिक स्वरूप पकड़ने लगी तो नायिकाभेद की परंपरा से मिलकर वह एकदम शृंगार-काव्य हो गई। पर यह पहले ही कहा जा चुका है कि कृष्ण का आलंबन मिल जाने से भक्ति में विदेशी रंग-ढंग केवल प्रेम की पीर के रूप में तो बना रहा, किंतु जुगुप्सावाली प्रवृत्ति हट गई। यहाँ तक कि देशी काव्य-परंपरा के मेल में आकर विदेशी कवि तक उसे एकदम छोड़ बैठे। रहीम आदि में ऐसी रचनाएँ बहुत कम मिलती हैं—

जुकिहारी जोबन लिए, हाथ फिरै रस हेत ।

आपुन माँस चखाइ कै, रक्त आन को लेत ॥

बिरही के उर में गड़े, स्याम अलक की नोक ।

बिरह-पीर पर लावई, रक्त-पियासी जोंक ॥

—रहीम-रत्नावली, पृष्ठ ३५ ।

इसी प्रकार 'रसखान' भी, जो श्रीकृष्ण के रूप पर मुग्ध हुए थे, प्रेम की कठोरता का प्रतिपादन करते हुए तो ऐसी-ऐसी सिद्धांत की बातें रखते हैं—

कोउ याहि फाँसी कहत, कोउ कहत तरवार ।

नेजा, भाला, तीर, कोउ कहत अनोखी ढार ॥

पै एतोहू हम सुन्यो प्रेम अजूबो खेल ।

जाँ बाजी बाजी यहाँ, दिल का दिल से मेल ॥

—प्रेमवाटिका ।

किंतु जहाँ कृष्ण के प्रेम की चर्चा चलती है वहाँ बीभत्स व्यापार

एकदम सामने नहीं लाते । हाँ, भावुकता का साथ देनेवाली वेदना बराबर मिलती है ।

हिंदी के रीतिकाल में कई ऐसे कवि हुए हैं जो नायिकाभेद की या रीति की लकीर के फकीर नहीं बने हैं, उनमें स्वच्छंद रचना करनेवाले प्रसिद्ध कवि रसखान, घनानंद, ठाकुर आदि हैं । इनकी रचनाओं में जो प्रेम का अनूठा स्वरूप मिलता है, वह भी विदेशी वेदना के ही कारण, विशेषतः घनानंद की कविता में । घनानंद को प्रेम की बहुत-सी कहा-सुनी की जगह विदेशी रंग-ढंग के ही कारण मिली है । उन्होंने पहले ही कह दिया था कि—

समुझै कबिता घनआनंद की हिय आँखिन नेह की पीर तकी ।
इस प्रकार के कवियों की कविता में प्रियतम से मिलने के लिए पर्वत नदी नाले लाँघना, उसकी गली में फेरी लगाना, भाले-तलवार की चोट से हरदम छटपटाया करना, प्रेम का पिशाच लगाना, मरने से कम की चर्चा ही न करना आदि कितने ही बातें ऐसी हैं जो विदेशी रंग-ढंग से पूर्ण हैं । यह केवल विदेशी प्रभाव की चली आती हुई परंपरा ही नहीं है । ये लोग अपने समय में भी उस साहित्य से प्रभावित होते रहे हैं । जिन लोगों ने आगे चलकर अधिक प्रभावित होना प्रारंभ किया उनकी बात बहुत स्पष्ट हो गई, जैसे रसनिधि आदि, पर जो कुशल थे उन्होंने उसे एक ढंग से ग्रहण किया, जैसे ठाकुर आदि ।

पर कुछ लोग ऐसे भी थे जिन्होंने इस विदेशी भावना को एकदम भारतीय रंग-ढंग में मिलाकर सामने रखा । ऐसे ही कवियों में बिहारी हैं । इनकी कविता में विरह की उक्तियाँ उसी चमत्कारप्रियता का संकेत करनेवाली हैं जो मुसलमानी साहित्य

में अधिक पाई जाती हैं । विरह की ऊहात्मक उक्तियाँ भारतीय परंपरा के भीतर भी पाई जाती हैं । बिहारी ने इन दोनों को ऐसा मिला दिया है कि सहसा पता नहीं लग सकता कि कवि को भारतीय परंपरा में समझें या विदेशी भाव से प्रभावित । पर ध्यान देने से यह साफ झलकने लगता है कि बिहारी ने विदेशी रंग-ढंग को भारतीय पद्धति के भीतर ही देखने का ही प्रयत्न किया है । कुछ उदाहरण लीजिए—

इत आवति चलि जाति उत चली छ-सातक हाथ ।

चढ़ी हिंडोरै-सैं रहै, लगी उसासनु साथ ॥

—बिहारी-सतसई, ३१७ ।

साँस का यह झूला विदेशी ही है । कृशता के कारण साँस लेने से शरीर का हिलना आदि भारतीय परंपरा में भी मिलता है, ❀ पर उसके झोंके से करवट बदलना, झूला झूलने लगना आदि विदेशी चमत्कारवाद का नतीजा है । संस्कृत में भी दंडी आदि पुराने चमत्कारवादियों के प्रभाव से कुछ आलंकारिक रंग-ढंग बढ़ गया था । आगे चलकर वह कम होने लगा था, किंतु मुसलमानी शासन हो जाने से संस्कृत के मुक्तककारों में भी ऐसी चमत्कारवाली प्रवृत्ति फिर आने लगी थी, इस बात पर भी ध्यान रखना जरूरी है ।

❀ प्राप्ता तथा तानवमङ्गयष्टिस्त्वद्विप्रयोगेण कुरङ्गदृष्टेः ।

धत्ते गृहस्तम्भनिवर्त्तितेन कम्पं यथा श्वाससमीरणेन ॥

—विक्रमार्कदेवचरित ।

(आपके वियोग से उस गृहजन्य की शरीर-लता इतनी कृश हो गई है कि घर के खंभे से टकराकर लौथी हुई साँस की हवा से वह काँपने लगती है ।)

करी बिरह ऐसी तऊ गैल न छाड़तु नीच ।

दीनै हूँ चसमा चखनु, चाहै लहै न मीच ॥

—बिहारी-सतसई, १४० ।

कजा के दूढ़ते फिरने की उक्तियों से इसमें कोई अंतर नहीं है । भारतीय परंपरा में कृशता का जो वर्णन होता है उसमें आश्रय की दशा का चित्रण विशेष रहता है, बाहरी आरोप के द्वारा कृशता की व्यंजना वहाँ नहीं होती । इसलिए इसे विदेशी प्रभाव का ही परिणाम समझना चाहिए । मौत के शिकरे की यह भूपट भी विदेशी ही है—

नित संसौ हंसौ बचतु, मनौ सु इहिं अनुमानु ।

बिरह-अगिनि-लपटनु सकतु, क्षपटि न मीचु-सिचानु ॥

—बिहारी-सतसई, १२४ ।

विरहताप की अधिकता के कारण कपड़ों को भिगोकर, शरद् ऋतु में भी नाना प्रकार के शीतल उपचारों के प्रयोग करके नायिका के निकट पहुँचना, विदेशी रंग-ढंग ही है । पर दूर से बिहारी के भीतर की यह विदेशीयता नहीं लक्षित होती । इसका कारण यही है कि बिहारी ने उन्हीं विदेशी ढंगों को ग्रहण किया है जो भारतीय परंपरा की छाया में पल्लवित हो सकते हैं ।

प्रेम के निरूपण में, सौंदर्य की व्यंजना तथा अन्यत्र भी बहुत-सी बातें ऐसी आई हैं जो विदेशी प्रभाव से प्रभावित हैं, पर बहुत दूर तक उन्हें ले जाने का प्रयत्न बिहारी ने नहीं किया है । जहाँ तक किसी बात को ले जाने की 'समाई' थी वहीं तक उसे रखा है, इसलिए दो-चार स्थलों के अतिरिक्त उसमें विदेशी ढंग का भद्दापन कहीं नहीं आया है । उदाहरण लीजिए—

निरदय ! नेहु नयौ निरखि भयौ जगतु भयभीतु ।

यह न कहूँ अब लौं सुनी, मरि मारियै जु मीतु ॥

—बिहारी-सतसई, ३७० ।

यहाँ बिहारी ने केवल 'मरि मारियै' ही रखा है, मार-काट का कोई बीभत्स व्यापार नहीं खड़ा किया ।

ढर न टरै, नींद न परै, हरै न कालबिपाकु ।

छिनकु छाकि उछकै न फिरि, खरौ बिपमु छबि-छाकु ॥

—बिहारी-सतसई, ३१८ ।

है तो यह नशा विदेशी ही, पर भारतीय पद्धति से बहुत दूर नहीं है ।

जौ न जुगति पिय-मिलन की, धूरि मुकति-मुँह दीन ।

जौ लहियै सँग-सजन, तौ धरक नरक हूँ की न ॥

—बिहारी-सतसई, ७५ ।

दोजख की आग में राख होनेवाले आशिकों की मुसलमानी उक्तियों से यह उक्ति बहुत-कुछ मिल गई है, पर दोजख के आतिश की भीषणता का निरूपण न करके कवि ने इसे भवुकता की सामान्य उक्ति के ही रूप में रहने दिया है और देशी परंपरा में मिलाने की चेष्टा की है । क्योंकि शृंगार की इसी से मिलती-जुलती उक्तियाँ भवृहरि आदि में मिल जाती हैं । इसी प्रकार सुकुमारता की ये उक्तियाँ भी हैं—

भूपन-भारु लँभारिहै, क्यों इहिं तन सुकुमार ।

सूधे पाइ न धर परै, सोभा हीं कै भार ॥

—बिहारी-सतसई, ३२२ ।

पहिरि न भूपन कनक के, कहि आवत इहि हेतु ।
दरपन के से मोरचे, देह दिखाई देत ॥

—विहारा-सतसई, ३३५ ।

‘फोटो’ का यह बखेड़ा भी वैसा ही है—

लिखन बैठि जाकी सबी, गहि गहि गरब गर ।

भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ॥

—विहारा-सतसई, ३४७ ।

भावों की ही नहीं भाषा की सफाई और मुहावरों के प्रयोग भी विदेशी छाप से युक्त हैं, आगे चलकर ‘रत्नाकर’ जी ने अपनी कविता में मुहावरों का प्रयोग बहुत कुछ विदेशी रंग-ढंग का रखा है, यह विहारी की ही नकल है । भाषा के संबन्ध में यहाँ अधिक विचार करने की गुंजाइश नहीं, इसलिए यहाँ पर केवल बात को थोड़ा साफ करने के लिए एक उदाहरण दिया जाता है—

मूड़ चढ़ाएँऊ रहै, पन्थौ पीठि कच-भारु ।

रहै गरें परि, राखिबौ, तऊ हियें पर हारु ॥

—विहारी-मतमई, ४५१ ।

यहाँ पर ‘मूड़ चढ़ाएँ’, ‘पन्थौ पीठि’, ‘गरें परि’, ‘हियें पर’ चारों लाक्षणिक प्रयोग हैं और मुहावरों की यह लाक्षणिकता मुसलमानी छाप को साफ व्यक्त कर रही है । हिंदी की परंपरा में इस प्रकार मुहावरों को लेकर कहने-सुनने की परंपरा कम थी । ऊपर प्रेम के जिन स्वच्छंद कवियों का नाम लिया गया है, सभी में इस प्रकार की कहन मिलती है । इसलिए इसे विदेशी छाप ही मानना पड़ेगा ।

यही नहीं, कितने ही आलंकारिक प्रयोग, जो भाषा की वक्रता के

आधार पर मुसलमानी काव्य में मिलते हैं, वे भी बिहारी में पाए जाते हैं, पर अपने यहाँ की आलंकारिक योजना में इन्होंने उसे ऐसा मिला रखा है कि उसमें बाहरी रंग-ढंग दूर से नहीं झलकता। बिहारी का यह प्रयत्न श्लाघ्य कहा जायगा। अपने साहित्य एवं भाषा की परंपरा एवं प्रकृत को न भूलते हुए विदेशी बातों को भी उसके भीतर दिखाना एक विशेष प्रतिभा का परिचायक है। बिहारी की यह विशेषता भी ध्यान में रखने योग्य है।

सतसई की परंपरा

स्तोत्र और भक्ति के ग्रंथों के नाम शतक, सप्तशती आदि होते ही थे, पर जब लोग शृंगार की मुक्तक-रचना करने लगे तो शुद्ध काव्य में भी शतक और सप्तशती नाम का ग्रहण होने लगा। प्राकृत में जब से हाल की गाथासप्तशती का संग्रह हुआ तब से शृंगार के वैसे ही रसपूर्ण मुक्तकों की रचना करने का और लोगों को भी हौसला होने लगा। इसके परिणाम-स्वरूप आर्यासप्तशती और और अमरकशतक ऐसे ग्रंथों की रचना हुई। बात यह थी कि लोग जो स्फुट रचना किया करते थे उसके लिए कोई एक नियत संख्या का होना आवश्यक था। यों तो प्राकृत में और आगे चलकर मुक्तकों की बहुत-सी ऐसी रचना मिलती है जो किसी सप्तशती या ग्रंथविशेष की न होकर विभिन्न कवियों की स्फुट रचना है। पर जिनकी रचनाएँ काफी हो गईं उन्होंने उसे पुस्तक का भी रूप दे दिया। जो ऐसा न कर सका उसकी कितनी ही रचनाएँ उसी तरह रह गईं, केवल अन्य लोगों को जो रचनाएँ याद थीं वे ही सामने आ सकीं। मुक्तकों को 'सौ' के बंधन में बाँधने की परंपरा-सी चली आती है। पुरानी हिंदी में पता नहीं ऐसे और ग्रंथ थे या नहीं, पर कहा जाता है कि रहीम की एक सतसई थी, जिसके लगभग आधे छंद मिलते हैं। तुलसीदास के नाम से एक तुलसी-सतसई या रामसतसई मिलती ही है। बिहारी की सतसई के निर्मित हो जाने पर तो बहुतों ने नोक-भोंक में सतसईयाँ लिख डालीं। विक्रमसतसई, शृंगारसतसई, मतिरामसतसई, बृंदसतसई आदि

कई सतसइयाँ रची गई । इनमें से बिहारी की होड़ में लिखी गई शृंगार की सतसइयाँ अधिक हैं ; यद्यपि नीति की सतसइयाँ भी बनी हैं जिनसे बिहारी की कविता की होड़ से कोई संबंध नहीं । उन्हें चाहे तो कह सकते हैं कि उनकी परंपरा ही अलग है । रहीम और तुलसी की सतसइयाँ भी नीति-सतसइयाँ ही हैं । इसलिए हिंदी में शृंगार की सतसइयों का आरंभ बिहारी से ही होता है । आगे चलकर सतसई तक ही यह संख्या बँधी न रह सकी, लोग 'हजारा' भी लिखने लगे, जैसे 'रतनहजारा' । हमारे एक मित्र ने कानपुर में एक नौसई और ग्यारहसई भी देखी है । जिनमें से नौसई तो प्रसिद्ध कवि देवकीनंदन की कही जाती है । आधुनिक समय में भी कई सतसइयाँ निकल रही हैं ।

पर बिहारी ने आधार संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश को ही रखा है । हिंदी के पुराने कवियों के भी दोहेवाले ग्रंथ इन्होंने उलटे-पलटे थे, पर इनके आधार-ग्रंथ गाथासप्तशती, आर्या-सप्तशती, अमरकशतक आदि ही विशेष रूप से हैं । अपभ्रंश के बहुत-से छंदों में बिहारी के दोहों के से भाव मिलते हैं, पर कोई स्वतंत्र ग्रंथ अपभ्रंश का नहीं मिलता । इन्होंने हेमचंद्रादि अथवा अन्यत्र इनका भी अवलोकन किया होगा । ऊपर भी कई बार कहा जा चुका है कि बिहारी की यह शृंगार-रचना एक बँधकर चली आती हुई परंपरा की ओर संकेत अवश्य करती है । रहीम ऐसे विदेशी कवि ने भी शृंगार की जो इस ढंग की मुक्तक-रचना की है, वह भी प्रौढ़ है । यह प्रौढ़ता केवल किसी विशेष व्यक्ति की विभूति नहीं कही जा सकती है । इस प्रौढ़ता का कारण एक परंपरा जान पड़ती है । संस्कृत और प्राकृत के ग्रंथों को ही

पढ़कर कोई एक ऐसी रचना नहीं कर सकेगा, जैसी बिहारी ने की है। अवश्य इसके पीछे परंपरा भी है। आज उसका ठीक-ठीक पता नहीं मिलता है, पर वह रही होगी, इसमें संदेह नहीं है। इसके संकेत भी कुछ-कुछ मिलते हैं।

बिहारी-सतसई की इस आधार-परंपरा का मिलान करने के लिए नीचे विभिन्न पुस्तकों और स्थलों से कुछ थोड़े-से उदाहरण, मिलते-जुलते बिहारी के दोहों के साथ उद्धृत कर किए जाते हैं। बिहारी के जितने दोहों से मिलनेवाले संस्कृत, प्राकृत आदि के छंद मिलते हैं उनको यदि ध्यान से देखा जायगा तो साफ पता चल जायगा कि बिहारी ने अंधानुसरण कहीं नहीं किया है। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों के उन ग्रंथों को पढ़ा था, इससे उसके संस्कार से कई उक्तियाँ उन कवियों की रचनाओं से मिल गई हैं। बहुत-से छंदों को कुछ संस्कार एवं सुधार के साथ ही इन्होंने ग्रहण किया है। पहले गाथासप्तशती को ही देखिए—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं बिकासु इहिं काल ।

अली कली ही सौं बैँध्यौ, आगें कौन हवाल ॥

— बिहारी-सतसई, ३८ ।

जाव ण कोसविकासं पावइ ईसीस मालईकलिआ ।

मअरन्दपाणलोहिल्ल भमर तावच्चिअ मलेसि ॥ ॐ

— गाथासप्तशती, ५-४४ ।

ॐ यावन्न कोशविकासं प्राप्नोतीषन्मालतीकलिका ।

मकरन्दपानलोभयुक्त भ्रमर तावदेव मर्दयसि ॥

(अभी मालती की कनी के कोश का विकास भी नहीं हो पाया कि मकरंद को पान करने के लोभी भ्रमर ने उसका मर्दन आरंभ कर दिया ।)

अविहत्तसंधिवन्धं पदमरसुब्भेअपाणलोहिलां ।

उब्बेलिउं ण जाणइ खण्डइ कलिआमुँहं भमरो ॥ ❀

—गाथासप्तशती, ७-१३ ।

कागद पर लिखत न बनत कहत सँदेसु लजात ।

कहिहै सञ्चु तेरौ हियौ, मेरे हिय की बात ॥

—बिहारी-सतसई, ६० ।

वाआइ किं भणिज्जउ केत्तिअमेत्तं वा लिक्खए लेहे ।

तुह विरहे जं दुक्खं तस्स तुमं चेअ गहिअत्थो ॥ †

—गाथासप्तशती, ६-७१ ।

गाथासप्तशती के अनुकरण पर बननेवाली 'आर्यासप्तशती' के भी कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

❀ अविभक्तसंधिवन्धं

प्रथमरसोद्भेदपानलुब्धः ।

उद्वेलितुं न जानाति खण्डयति कलिकामुखं भ्रमरः ॥

(कली के प्रथम मकरंद रस के पान का लोभी भौरा उसके मुख के जोड़ को खंडित कर रहा है, वह उसको विकसित करना नहीं जानता ।)

भ्रमर और कली को ऐसी उक्तियाँ बहुत-सी लिखी गईं—

पिब मधुप ! बकुलकलिकां दूरे रसनाग्रमात्रमाधाय ।

अधरविलेपसमाप्ये मधुनि मुधा वदनमर्पयसि ॥

—आर्यासप्तशती, ३१७ ।

अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग ! लोलं विनोदय मनः सुमनोलासु ।

मुग्धामजातरजसं कलिकामकाले व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः ॥

—विकटनिर्तना ।

† वाचया किं भण्यतां कियन्मात्रं वा लिख्यते लेखे ।

तत्र विरहे यद्दुःखं तस्य त्वमेव गृहीतार्थः ॥

(बाणी से क्या कहा जाय, लेख में कितना लिखा जाय ? आपके विरह में जो दुःख हो रहा है उसे आप स्वयं समझ सकते हैं ।)

कंजनयनि मंजन किँ, बैठी व्यौरति बार ।

कच अँगुरिन बिच दीठि दै, चितवति नंदकुमार ॥

—बिहारी-सतसई, ७८ ।

चिकुरविसारणतिर्यङ्गतकण्ठी विमुखवृत्तिरपि बाला ।

त्वामियमहुलिकल्पितकचावकाशा विलोकयति ॥ ❀

—आर्यासप्तशती, २३१ ।

फिरि फिरि चित उत ही रहत, टुटी लाज की लाव ।

अंग अंग छबि-झौर मैं, भयो भौर की नाव ॥

—बिहारी-सतसई, १० ।

आमं आमं स्थितया स्नेहे तव पयसि तत्र तत्रैव ।†

आवर्त्तपतितनौकायितमनया विनयमपनीय ॥

—आर्यासप्तशती, ४२२ ।

अपभ्रंश के जो फुटकर 'दूहा' हेमचंद्रादि में मिलते हैं उनमें भी यह परंपरा सुरक्षित है । बिहारी के बहुत-से दोहे इन 'दूहों' से भी उसी प्रकार मिल जाते हैं ।

भण सहि निहुअउं तेवँ मइं जइ पिउ दिट्ठु सदोसु ।

, जेवँ न जाणइ मज्झु मणु पक्खावडिअं तासु ॥ ‡

—ना० प्र० प०, भाग २ अंक ४ ।

❀ वालों को सँवारने में गर्दन को तिरछी किए झुकी हुई उलटे (पीठ फेरें) बैठी हुई भी वह नायिका अँगुलियों से बालों के बीच में जगह करके तुम्हें देख रही है ।

† तुम्हारे स्नेह के जल में इधर-उधर चकर काटकर वहीं की वहीं स्थित यह नायिका विनय को छोड़कर, भौर में पड़ी हुई नौका बन गई है ।

‡ हे सखि ! यदि प्रिय सदोष दिखाई पड़ा है तो मुझसे इस प्रकार गुस्सरूष से

सखी सिखावति मान-विधि, सैननि वरजति बाल ।
हरये कहि मो हिय बसत, सदा बिहारीलाल ॥ॐ

—लालचंद्रिका, ७१३ ।

अम्मीए सत्थावथेहिं सुधिं चिन्तिजइ माणु ।
पिए दिट्ठे हल्लोहलेण की चेअइ अप्पाणु ॥†

—ना० प्र० प०, भाग २, अंक ४ ।

तुहूँ कहति, हौं आपु हूँ समुझति सबै सयानु ।
लखि मोहनु जौ मनु रहै, तौ मन राखौं मानु ॥

—बिहारी-सतसई, ४५८ ।

कह कि उसका पक्षपाती मेरा मन न जान सके ।

इसी भाव से मिलता हुआ 'अमरुक' का यह प्रसिद्ध श्लोक भी है—

मुग्धे मुग्धनयैव नेतुमखिलः कालः किमारम्यते
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि ।
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
नोनैः शंसं हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोध्यति ॥

—अमरुकरातक, ७० ।

[(सखी नायिका से कहती है) हे मुग्धे ! इस प्रकार मुग्ध भाव से समय क्या बीता रही हो ? मान करो, धीरज बाँधो, सिधार्थ को दूर कर दो । सखी के द्वारा इस प्रकार सचेत करने पर वह भयभीत मुख कर के सखा से कहने लगी कि धीरे से बोल, मेरे हृदय में बैठे हुए प्राणेश्वर कहीं सुन न लें !]

ॐ बिहारी-रत्नाकर में यह दोहा स्वीकृत नहीं है । पर लालचंद्रिका आदि दो-तीन पुस्तकों में पाया जाता है ।

† अम्मा ! जो स्वस्थ अवस्था में हो वही सुख से मान की बात सोच सकता है । प्रिय के देखने पर हड़बड़ी के कारण कौन अपनत्व को चेत सकता है ? (अपनत्व ही भूल जाता है तो फिर मान कैसा ।)

भमरा एतु बि लिम्बडइ केवि दियहडा विलम्बु ।

घणपत्तलु छायाबहुलु फुलहिं जाम कयम्बु ॥ॐ

—ना० प्र० प०, भाग २, अंक ४ ।

इहीं आस अटक्यौ रहतु, अलि गुलाब केँ मूल ।

हैंहैं फेरि बसंत ऋतु, इन डारनु वे फूल ॥

—बिहारी-सतसई, ४३७ ।

बिहारी के दोहों से भाव में मिलनेवाले कितने हो और बहुत से पद्य प्राकृत, अपभ्रंश आदि के अतिरिक्त संस्कृत के शृंगारी मुक्तकों में भी मिलते हैं । सबका संग्रह करना और सबको दिखाना न तो अभीष्ट ही है और न उसके लिए स्थल ही । इसलिए संस्कृत के प्रसिद्ध 'अमरकशतक' का केवल एक बहुत प्रसिद्ध छंद नीचे देकर हम हिंदी के कुछ पुराने कवियों से बिहारी-सतसई की परंपरा का मिलान करने का प्रयत्न करेंगे ।

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-

निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।

वित्तव्यं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं

लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥^१

—अमरकशतक, ८२ ।

मैं मिसहा सोयौ समझि, मुँहु चूम्यौ दिग जाइ ।

हँस्यौ, बिस्वानी, गल गह्यौ, रही गरै लपटाइ ॥

—बिहारी-सतसई, ६४२ ।

यह सब दिखाकर यह लक्षित करने के फेर में पड़ना हमारा अभीष्ट नहीं कि बिहारी और उनके पूर्ववर्ती कवियों में से कौन

ॐ हे भौरे ! (तब तक) यहाँ नीवड़ा में कुछ दिन विलंब कर, घने पत्तों और बहुत छायावाला कंदू जब तक नहीं फूल जाता ।

बड़ा या महाकवि था, और न यही कि बिहारी ने भावों की चोरी की है या नहीं। यहाँ हम केवल इतना ही दिखाना चाहते हैं कि बिहारी-सतसई की परंपरा कहाँ से मिली हुई है और जिन भावों एवं पद्धतियों को बिहारी ने ग्रहण किया है वे परंपरा से चली आ रही हैं। हिंदी के रीति-काल में अधिकांश रचना ऐसी हुई है जिसमें केवल प्राचीन भावों का पिष्टपेषण है, ऐसा पिष्टपेषण कि सुनते-सुनते कान पथराने लगते हैं। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि बिहारी में अथवा हिंदी के स्वच्छंद कवियों में भी वही प्रवृत्ति व्याप्त रही; उन लोगों ने मार्ग तो वही ग्रहण किया, भूमिका भी वैसी ही रखी; पर महल अपना खड़ा किया, मसाला अपना लगाया। इस बात को ही आनंदवर्धनाचार्य तथा राजशेखर ने कवि-प्रतिभा के रूप में माना है, केवल शब्दों को लेकर साहित्यिक युद्ध के लिए मोर्चेबंदी करने लगना उन लोगों की दृष्टि में भी अनुचित था। शब्द ही क्यों, वर्य विषय तक को लेकर ऐसा करने बैठना अनुचित है, क्योंकि वर्य विषय तो वही अब तक चला आ रहा है, शब्द भी वे ही रहते हैं, अंतर केवल कहने के ढंग और कवि की भावुकता का पड़ता है। किस प्रकार से कौन-सी बात कही जाय जो प्रभावोत्पादक हो, हृदय को छू सके, यही अच्छे कवियों का कार्य है। उनके कहने का ढंग भी उन्हें औरों से भिन्न करता है, उनकी अवेक्षण शक्ति की तीव्रता और उसके निरूपण की निपुणता ही उन्हें औरों से अलग रख देती है।

बिहारी के पूर्व इस प्रकार की शृंगारी रचना हिंदी में अवश्य हुई होगी, यह तो बिहारी की प्रौढ़ता से ही पता चल जाता है किंतु उन ग्रंथों और कवियों का पता नहीं चलता। इधर-उधर।

इसमें उदाहरण ऐसे ही रखे गए हैं जो बिहारी से मिलते हुए अथवा इस शृंगारी परंपरा के पोषक हैं। अंतिम बरवैवाला उदाहरण तो एकदम बिहारी से मिल जाता है।

‘हिततरंगिणी’ से भी कुछ उदाहरण लीजिए—

खेलति चोरमिहीचनी, निजु सखि डंठि बनाइ ।

स्याम दुरे तिहि कोन में, दुरत लए उर लाइ ॥

—हिततरंगिणी, ५४ १६ ।

दोऊ चोरमिहीचनी, खेलु न खेलि अघात ।

दुरत हियें लपटाइ कै, छुवत हियें लपटात ॥

—बिहारी-सतसई, ५३० ।

मोहि रुचै सोई करै, अति उदार प्यो जान ।

मो मन साध रहै सदा, करैं कौन बिधि मान ॥

—हिततरंगिणी ।

राति चौस हौंसै रहै, मानु न ठिकु ठहराइ ।

जेतौ औगुन ढूँढियै, गुनै हाथ परि जाइ ॥

—बिहारी-सतसई, ४९३ ।

रहीम का ऊपर उद्धृत बरवै भी साथ में रख लीजिए, वही परंपरा है । ❀

❀ कुछ लोगों ने अज्ञानवश ऐसा समझ रखा है कि बरवै छंद रहीम के समय से चला है। कहा जाता है कि प्रेम की लिखा-पढ़ी में नीचे लिखे नये छंद की उद्भावना हुई और उसमें आए ‘बरवा’ शब्द से इस छंद का नाम बरवा या बरवै पड़ गया—

कवि-समाज को बिरवा चले लगाइ ।

सीचन की सुधि लीजौ मुरझि न जाइ ॥

बात ऐसी नहीं है। हिततरंगिणी में भी दोहों के साथ-साथ बरवै भी मिलते हैं और उनका क्रम वही अवधीवाला ही है ।

बिहारी-सतसई की रचना के बाद तो कितने ही लोग उसकी होड़ करने के लिए आगे बढ़े । पर बिहारी के ऐसी उतमें न तो मार्मिकता ही थी और उतनी विस्तृत दृष्टि ही, इसलिए वे लोग बिहारी की होड़ नहीं कर सके । बिहारी का प्रभाव केवल सतसई की-सी मुक्तक-रचना पर ही नहीं पड़ा, बल्कि और कितने ही मुक्तक-रचनाकार बिहारी से प्रभावित हुए । इस स्थान पर उन सबका विस्तार न करके उन्हें आगे प्रदर्शित किया जायगा । इस-लिए परवर्ती लोगों की चर्चा यहाँ नहीं उठाई जाती ।

भी समय की रुचि के अनुकूल होने के कारण उनकी प्रसिद्धि का कारण है । यदि जनता की रुचि ऐसे शृंगार और चमत्कार की ओर न होती तो बिहारी की प्रसिद्धि इतनी अधिक न हो पाती । बिहारी में उस प्रतिभा का भी संकेत मिलता है जो प्रेम के सच्चे स्वरूप को व्यंजना करने में ठीक उसी प्रकार समर्थ है, जिस प्रकार मध्ययुग के ठाकुर, घनानंद आदि स्वच्छंद कवियों की कविता । इसलिए यह मानना पड़ता है कि बिहारी ने लोक की रुचि पहचानकर ही अपनी प्रतिभा का व्यय किया था, और 'समै पलट पलटै प्रकृति' को वे खूब जानते थे । उनकी प्रतिभा सब ओर अपना प्रसार करती हुई दिखाई पड़ती है । प्रेम के भीतर उन्होंने सब प्रकार की सामग्री, सब प्रकार के वर्णन प्रस्तुत किए और वे भी इन्हीं सात सौ दोहों में ही । यह भी उनकी एक विशेषता ही है । नायिकाभेद या शृंगार का लक्षण-ग्रंथ लिखने वाले भी किसी नायिका या अलंकार आदि का वैसा साफ उदाहरण प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं हुए, जैसा बिहारी ने किया । यही उनकी प्रौढ़ता, काव्य के अध्ययन और रचना-शक्ति के लिए पर्याप्त प्रमाण है । इस विचार से बिहारी मध्ययुग के एक बहुत समर्थ कवि थे, इसमें संदेह नहीं और इसके साथ ही यह भी मान लेने में आनाकानी नहीं करनी चाहिए कि उनकी जोड़ का हिंदी में कोई दूसरा कवि नहीं हुआ । क्योंकि मुक्तकों में जो जो विशेषताएँ होनी चाहिएँ वे बिहारी में सबसे अधिक मात्रा में पाई जाती हैं । दुराग्रह करनेवालों की दवा ही क्या है ?

विप्रलंभ एवं विरह-वर्णन

स्नेह के संबंध में प्राचीन प्रवाद यह चला आ रहा है कि वियोग में वह क्षीण हो जाता है, पर इस प्रवाद का खंडन महाकवि कालिदास ने अपने 'मेघदूत' में यत्न द्वारा करा दिया है। वे कहते हैं कि वियोगावस्था में प्रेम का भोग नहीं होता इसलिए वह राशीभूत हो जाता है। ❀ वस्तुतः प्रेम का वियोग-पक्ष उसका विस्तार दिखाने के लिए बहुत बड़ी जगह उत्पन्न कर देता है। वियोग में ही प्रेम की वृत्ति यहाँ तक अपना प्रसार कर लेती है कि जड़ वस्तुएँ भी प्रेम को सुनाने के लिए योग्य समझ ली जाती हैं। कोई प्रेम की संयोगावस्था में चाहे वृक्ष और लताओं से प्रेम-निवेदन या प्रेम-कथन न करे पर वियोगावस्था में वियोगी जड़ पदार्थों से भी अपना प्रेम कहता फिरता है, उनसे भी मार्ग पूछता फिरता है। सीता के वियोग में राम 'लता-तरु-पाँती' से उनका पता पूछते हुए पाए जाते हैं। इसलिए संयोग की अपेक्षा वियोग-पक्ष में ही हृदय का विस्तार दिखाने की जगह अधिक मिलती है।

विप्रलंभ शृंगार के मुख्य चार भेद माने जाते हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। प्रिय का संयोग होने के पूर्व उसके गुणश्रवण, दर्शनादि के कारण उससे मिलने की जो अभिलाषा होती

❀ रनेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वयोगा—

दिष्टे वस्तुन्युपचितरसा प्रेमराशीभवन्ति ।—मेघदूत, उत्तर भाग, ४६ ।

है, और मिल न सकने के कारण जो तड़प या वेदना होती है वही पूर्वराग है। अभिलाष की प्रधानता होने के कारण ही इसे 'अभिलाषा-हेतुक' वियोग भी कहा गया है। संयोग के अनंतर प्रेम की स्वाभाविक वृत्ति के कारण अथवा ईर्ष्या के कारण जो नायक-नायिका परस्पर रूठ जाते हैं वही मान है। ग्रंथों में प्रणय-मान का वर्णन तो कम होता है पर ईर्ष्या-मान का वर्णन विस्तार पूर्वक देखा जाता है। इसीलिए कुछ लोग मान को 'ईर्ष्या-हेतुक' ही कहते हैं। किसी दूसरी स्त्री का नाम स्वप्न में बड़बड़ाने से, शरीर में रतिचिह्नों के प्रकट होने से या गोत्रस्खलन अर्थात् दूसरी नायिका का नाम ले बैठने से यह मान उठ खड़ा होता है। पति के कार्यवश या किसी शाप से विदेश में पड़ जाने पर प्रवास होता है। करुण विप्रलंभ वह है जहाँ मृत्यु के बाद भी मिलने की आशा रहती है। जैसे कादंबरी में पुंडरीक के मरने पर भी आकाशवाणी होने पर महाश्वेता को उसके मिलने की आशा बंध गई थी।

इन चारों भेदों में से पूर्वराग में उत्कट अभिलाषा-मात्र रहती है, इसलिए वेदना का अधिक विस्तार दिखलाने की जगह उसमें नहीं रहती। जो लोग ऐसा जानते हुए भी पूर्वानुराग में ही नाना प्रकार की व्याधि खड़ी कर दिया करते हैं वे प्रेम के स्वरूप को ठीक नहीं समझते। मान भी घर के घरे के भीतर ही होता है, इसलिए उसमें भी वेदना का बड़ा चढ़ा रूप ठीक नहीं। उसे तो विप्रलंभ के भीतर न मानकर संयोग के भीतर ही मानना चाहिए। मान थोड़े समय तक रहेगा और फिर उसकी शांति हो जायगी। अन्य संचारियों की भाँति मान का कोप भी संचरण

करके लुप्त हो जायगा । इसलिए उसे विप्रलंभ में लाना ही ठीक नहीं । इसी से कुछ लोगों ने कहा है कि यदि खुशामद से पूर्व ही मान उड़ जाय तो विप्रलंभ नहीं माना जा सकता । शृंगार के दोनों भेदों में योग और अयोग ही प्रधान माना जाता है । मान की अवस्था में संयोग नहीं रहता, इसीसे वह विप्रलंभ के भीतर माना गया है । चाहे जो हो, मान में वियोग की वह भीषण वेदना न होती है और न अच्छे कवि उसकी भीषणता का वर्णन ही करते हैं । करुण विप्रलंभ दैवी व्यापारों के संयोग से घटित होता है इसलिए आजकल की दृष्टि से वह खेलवाड़ ही समझा जायगा । यदि मरण का विधान बहुत दूर तक न घसीटा जाय तो करुण विप्रलंभ के बहुत-से उदाहरण संस्कृत-साहित्य में खोजे जा सकते हैं, जैसे भवभूति के उत्तर-रामचरित एवं मालती-माधव में, कालिदास के विक्रमोर्वशीय एवं शकुंतला में भी । इन नाटकों में नायक-नायिका का वियोग ऐसा वर्णित है जिसमें पुनर्मिलन अनिश्चित है । पर नायिका को मृत्यु का निश्चय न होने से यह शृंगार के भीतर ही माना जायगा, मरण का निश्चय हो जाने पर जो विपाद होता है वह करुण रस का विषय है ।

इस प्रकार केवल प्रवास ही एक ऐसा भेद है जिसमें वियोग-पक्ष की सारी सामग्री का प्रयोग हो सकता है । यही विप्रलंभ का ठीक स्वरूप है, वेदना की तीव्रता दिखाने के लिए इसमें पूरी जगह भी मिल सकती है । बिहारी ने पूर्वानुराग का वर्णन भी कुछ अधिक किया है, पर प्रवास का ही वर्णन उनमें अधिकतर मिलता है । मान पर भी उनकी रचना मिलती है, जिसे उन्होंने दूर तक नहीं घसीटा है, कम से कम मान-शांति के अनंतर विरह

के कारण नदी-तालाब तो नहीं सुखाए हैं, जैसा हिंदी के कुछ कवि करते हुए देखे जाते हैं । ❀

वियोग-पक्ष में वेदना की पूर्ण विवृति दिखाने की जगह मिलती है । इसीलिए दश कामदशाओं का वर्णन भी इसमें आता है, जिनके नाम ये हैं—अभिलाषा, चिंता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण । इनमें से अधिक वर्णन कवि लोग व्याधि का ही करते हैं । बिहारो ने यों तो सभी दशाओं का वर्णन कर दिया है, पर व्याधि का विस्तार ही अधिक है, विरह-वर्णन इसीके अंतर्गत आता है । मरण दशा का वर्णन कवि लोग नहीं किया करते, क्योंकि मरण के वर्णन से रसांतर होने की आशंका रहती है, पर बिहारो ने मरण का भी कौशल से वर्णन कर दिया है । † दशाओं के अतिरिक्त भ्रमदेश, पत्र आदि का भी वर्णन वियोग के भीतर आता है । प्रवास के भूत, भविष्य और वर्तमान भेदों को दृष्टि में रखकर कई नायिकाओं का वर्णन भी इसीके अंतर्गत आ जाता है ।

शास्त्रीय कथा को यहीं छोड़कर बिहारो के विप्रलंभ शृंगार पर विचार करने की आवश्यकता है । बिहारो ने जिस प्रकार संयोग-पक्ष में एक ओर केवल वैधे हुए प्रेम की व्यंजना की है और दूसरी ओर प्रेम के विस्तार की, उसी प्रकार विप्रलंभ में

❀ घन घमंड पावस-निसा, सखर लगे मुखान ।

परखि प्रानपति जानिगो, तजौ मानिना मान ॥—पद्माकर ।

† कहा कहीं बाका दमा हरि प्राननु के ईस ।

विरह उजाज जरिबो लखै, मरियो भई असोस ॥

—बिहारो-सतसई, ११० ।

भी दो प्रकार के रूप पाए जाते हैं। विरह आदि का वर्णन तो उदात्मक ही है, पर पत्रिका के वर्णन में प्रेम के विस्तार की व्यंजना की गई है। विरह के वर्णन में भी कहीं कहीं स्वाभाविक ढंग से ही उक्ति कही गई है। जैसे—

करके मीड़ें कुसुम लों गई विरह कुम्हियाइ ।

सदा समीपनि सखिनुहैं नीति पिछानी जाइ ॥

—विहारी-सतसई, ५१६ ।

जब कोई बीमार रहता है तो आसपास के लोग भी उसे नहीं पहचान पाते, यह एक स्वाभाविक बात है। नायिका विरह में इतनी दुबली-पतली हो गई है, उसकी कांति इतनी फीकी पड़ गई है, उसका चेहरा इतना बदल गया है कि पास की सखियाँ भी उसे कठिनाई से पहचान पाती हैं। यहाँ तक तो कोई हानि नहीं, पर जब यह कहा जाता है कि—

इत आवाति चलि जाति उत चली छ-सातक भाथ ।

चढ़ी तिडोरैं सैं रों, लगी उमंसासनु साथ ॥

—विहारी-सतसई, ३१७ ।

तो दुर्बलता या क्षीणता की यह नाप-जोख सच्ची अनुभूति को कोमों दूर फेंक देती है।

विहारी का विरह-वर्णन अधिकतर इसी रूप का है। पहले ही कहा जा चुका है कि यह बाहरी प्रभाव था, पर विहारी ने विरह की व्यंजना में मध्य मार्ग का अवलंबन किया है। इसमें बाहरी चमत्कार का अतिरेक तो है पर वह भारतीय परंपरा के मेल में हो रखा हुआ है। नायिका हवा के झूले पर झूलती हुई तो कही

गई, पर बिस्तर झाड़ने की जरूरत तक वे नहीं गए । ❀

सुकुमारता आदि की व्यंजना के प्रसंग में पहले ही कहा जा चुका है कि काव्यार्थ जहाँ साध्य रहता है वहीं काव्य का उद्देश्य पूर्ण होता है । सिद्ध अर्थ को लेकर शुद्ध अनुमान के सहारे पर चलनेवाली उक्तियाँ बहुत काव्योपयोगी नहीं हो सकतीं । थोथे चमत्कार को लेकर बहुत दूर तक किसी बात को घसीटना काव्य के व्यापक लक्ष्य एवं उद्देश्य को बरबाद करना है । खेद है कि विरह की उक्तियों में मुक्तक-रचनाकार अधिकतर ऐसा ही करते देखे जाते हैं । वेदना की विवृति की जो जगह वियोग पक्ष में मिलती है उसकी व्यंजना में न लगकर तमाशा दिखाने में प्रवृत्त होना भद्दी बात है । घनानंद आदि कवि, जो सच्ची 'प्रेमपीर' की अनुभूति रखनेवाले हैं, ऐसे खेलवाड़ों में पड़े हुए नहीं देखे जाते । उनकी कविता में तर्क, अनुमान आदि का सहारा नहीं लिया गया है, हृदय की स्वाभाविक अनुभूति ही उसमें बराबर दिखाई पड़ती है । पर बिहारी इस तमाशा में लगे हैं—

सीरैं जतननु सिसिर ऋतु, सहि बिरहिनि-तन-तापु ।

बसिबे कौं ग्रीष्म-दिननु पय्यौ परोसिनि पापु ॥

—बिहारी-सतसई, २६६ ।

आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति ।

साहस ककै सनेह-बस सखी सवै ढिग जाति ॥

—बिहारी-सतसई, २८३ ।

❀ इंतहाय लागरी से जब नजर आया न मैं ।

हैंस के वो कहने लगे बिस्तर को झाड़ा चादिए ॥ —नासिक ।

विरह में तपनेवाली नायिका के संबंध में कुतर्क करने की जरूरत नहीं, होली की सी लपटें निकलती रहती हैं, तभी न एक कविजी घोपणा कर गए हैं कि “छाती सों छुवाइ दिया-
झाती क्यों न बारि लै” ।

औंधाई सांसी, सुलखि विरह-वरति बिललान ।

बिचहीं सुखि गुलाब गौ छोटौ छुई न गात ॥

—बिहारी-सतसई, २१७ ।

जिहि निदाघ-दुपहर रहे भई माघ की राति ।

तिहि उर्सार की रावटी खरी आवटी जाति ॥

—बिहारी-सतसई, २४४ ।

यह ताप मामूली नहीं है, नायक विदेश से ही बैठे बैठे नायिका के जीने का अनुमान भी कर लेता है—

सुनत पथिक-मुँह माह-निसि चलति लुवैं उहिं गाम ।

बिन वृक्षें बिनहीं कहैं, जियत बिचारी बाम ॥

—बिहारी-सतसई, २८५ ।

ऐसी ही पद्धति पकड़कर लोग ‘विधि की बनावट’ चौपट करने में लग गए थे, अच्छा हुआ कि उस वियोगिनी की आह नहीं कढ़ी । ऐसी उक्तियों पर लट्टू होनेवाले को घबड़ाने की जरूरत नहीं, मध्य युगकी विरासत आजकल के कवियों को मिल चुकी है । आह से ब्रह्मांड जलानेवालों का काफला अभी रुका नहीं है । प्रलयंकर राग गानेवालों का टोटा नहीं हुआ है ।

बिहारी ने कहीं-कहीं (आगतपतिका में) नाप-जोख की दो-एक बातें ऐसी कही हैं, जहाँ काव्यार्थ साध्य के रूप में ही बना है इसलिए वे कथन उतने भदे नहीं हैं—

रहे बरोटे मैं मिलत पिउ प्राननु के ईसु ।

आवत आवत की भई, विधि की घरी घरी सु ॥

—विहारी-सतसई, २२३ ।

ब्रह्मा की एक घड़ी मनुष्य की एक घड़ी से अरवों गुनी बड़ी होती है । पर कवि का तात्पर्य यहाँ गणना गिनाना नहीं है । साधारण बोलचाल में भी 'ब्रह्मा का दिन' देर लगने के अर्थ में आता है । इसलिए यहाँ परविधि की घड़ी केवल विलंब की सूचना मात्र देती है । यदि कवि यह न कहकर कहता कि वह घड़ी इतने वर्षों की हो गई तो अवश्य नाप-जोख हो जाती । जन-साधारण में प्रचलित सामान्य कथन जहाँ केवल साधक के रूप में कोई व्यंजना करने के लिए आते हैं वहाँ रुढ़ हो जाने के कारण उनको ऊहा उतनी खटकती नहीं । इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण भी है—

जदपि तेज रौहाल बल पलकौ लगी न बार ।

तौ ग्वैड़ो घर कौ भयौ पंडौ कोस हजार ॥

—विहारी-सतसई, १४५ ।

ऊपरवाले दोहे में समय की नाप थी यहाँ दूरी की नाप है । पर 'कोस हजार' यहाँ खटकता नहीं, क्योंकि कवि का तात्पर्य यह बतलाता है कि वह थोड़ी सो दूरी हजार कोस सो जान पड़ा । जिस प्रकार ऊपरवाले दोहे में गम्योत्प्रेक्षा थी, उसी प्रकार इस दोहे में भी । उत्प्रेक्षा के रूप में काव्यार्थ साध्य ही रहा, अतिशयोक्ति आदि की भाँति सिद्ध नहीं, इसी से ये उक्तियाँ खटकने वाली नहीं मानी जा सकतीं । साधारण बोलचाल में भी ऐसी

बातें कही जाती हैं, इसलिए रुढ़ि के भीतर आ जाने से इनकी नाप-जोख नष्ट हो गई है ।

ऊपर कहा जा चुका है कि विप्रलंभ के चारों भेदों में प्रवास ही प्रधान है । इसके भीतर नायिकाभेद में से प्रवत्स्यपतिका, प्रवत्स्यपतिका, प्रोषितपतिका और आगतपतिका आ जाती हैं । पत्रिका और संदेश का भी वर्णन इसी में आता है । इनमें से प्रोषितपतिका का तो वर्णन हो चुका । विरह-वर्णन प्रोषितपतिका का ही होता है । कहना पड़ता है कि बिहारी का प्रवत्स्यपतिका आदि का वर्णन प्रोषितपतिका के विरह-वर्णन से कहीं अधिक स्वाभाविक है । पत्रिका और संदेश में भी स्वाभाविकता ही अधिक है और वहाँ प्रेम का विस्तार दिखाने पर ही दृष्टि रखी गई है । कुछ उदाहरण देखिए—

अजों न आए सहज रँग, बिरह-दूबरें गात ।

अबहीं कहा चलाइयति ललन चलन की बात ॥

—बिहारी-सतसई, २०३ ।

ललन-चलनु सुनि पलनु में अँसुवा झलके आइ ।

भई लखाइ न सखिनु हूँ झूठें ही जमुहाइ ॥

—बिहारी-सतसई, ३९८ ।

परंपरा के अनुसार मलार राग गाकर वर्षा करने का आयोजन भी बिहारी ने किया है—

पूस-मास सुनि साँखनु सौं साईं चलत सवार ।

गहि कर बीन प्रबीन तिय गायो रागु मलार ॥

—बिहारी-सतसई, १४६ ।

आगतपतिका का 'उछाह' भी देखिए—

मृगनैनी दृग की फरक उर-उछाह तन-फूल ।

बिनहीं पिय-आगम उमँगि पलटन लगी दुकूल ॥

—बिहारी-सतसई, २२२ ।

जब कोई किसी की प्रतीक्षा में बैठा रहता है तो मामूली पत्ता खड़कने से भी वह उसके आने की निश्चित संभावना कर बैठता है । इसी प्रकार पति आनेवाले हैं, इधर आँख ने भी फड़क कर सगुन की सूचना दी । नायिका को उनके आने का पूरा निश्चय हो गया ।

एक उदाहरण और लीजिए—

बाम बाँह फरकति, मिलें जौ हरि जीवन-मूरि ।

तौ तोहीं सौं भेंटिहीं राखि दाहिनी दूरि ॥

—बिहारी-सतसई, ५७२ ।

एक प्राकृत की गाथा में भी बाएँ नेत्र के फड़कने पर नायिका दाहिने नेत्र को मूँदने की बात कहती है । ❀ साहित्य-मर्मज्ञों का कहना है कि इस प्रकार कानी नायिका अमंगल और असगुन की निशानी हो जायगी, बिहारी ने उसे बचाकर अपनो काव्य-मर्मज्ञता का परिचय दिया है ।

❀ फुरए बामाच्छि तुर जइ पहिइ सो पिआजु ता सुदरम ।

संमोलिअ दाहिणअं तुइ अवि एहं पनोइस्सम ॥

—गाथासप्तशती, २-३७ ।

[स्फुरिते वामाक्षि त्वयि यद्येष्यति स प्रियोऽथ तत्सुचिरम् ।

संमोल्या दक्षिणं त्वयैवैतं प्रेषिष्ये ।]

ओ बाई आँख ! तेरे फड़कने हुए यदि आज प्रिय आगम तो दाहिनी को भली भाँति ढककर तुझी से देर तक उन्हें देखूँगी ।

बहुत दिनों के बाद जब अपने किसी अत्यंत प्रिय से भेंट होती है तो मुँह से बातें नहीं निकलतीं । इसी को लेकर बिहारी कहते हैं—

बिदुरें जिये संकोच इहिं बोलत बनत न बैन ।

दोऊ दौरि लगे हियैं किये लजौहैं नैन ॥

—बिहारी-सतसई, ५७८ ।

अब पत्रिका और संदेश के उदाहरण देखिए—

कागद पर लिखत न बनत कहत सँदेशु लजात ।

कहिहै सबु तेरौ हियौ मेरे हिय की बात ॥

—बिहारी-सतसई, ६० ।

नायिका समझती है कि बिगड़ में मैं जिस प्रकार व्याकुल हूँ उसी प्रकार नायक भी होगा । फिर लिखा-पढ़ी की जरूरत ही क्या ! दोनों के हृदय जब एक से हैं तो उनमें व्याकुलता भी एक सी ही होगी । यही नहीं बिना अक्षरों की पाती भी किस प्रकार बाँची जा रही है—

बिरह-बिकल विनु ही लिखी पाती दई पठाइ ।

आँक-बिहीनीयौ सुचित सूनें बाँचित जाइ ॥

—बिहारी-सतसई, ५२६ ।

प्रिय के यहाँ से आनेवाली वस्तु के प्रति कितनी उत्सुकता होती है ! उसको बड़े यत्न से देखने का प्रबंध किया जाता है, चाहे उसमें कुछ भी न धरा हो । पत्रिका भी नायिका के प्रेम का कितना बड़ा आलंबन बन जाती है ! इसी की व्यंजना कवि ने इस दोहे में की है । ऊपर की पत्रिका में अंक नहीं थे यहाँ अंक भी हैं—

कर ले चूमि चढ़ाई सिर उर लगाइ भुज भेंटि ।
लहि पाती पिय की लखति, बाँचति धरति समेटि ॥

—बिहारी-सतसई, ६३५ ।

पर कहीं कहीं विरह-ताप से पत्रिका का जलना आदि भी बिहारी ने लिखा है—

तर झरसी ऊपर गरी कज्जल-जल छिरकाइ ।
पिय-पाती बिनहीं लिखी बाँची विरह-बलाइ ॥

—बिहारी-सतसई, ३२८ ।

इस दोहे में 'तर झरसी' केवल परंपरा की लकीर पीटना है ।

ऊपर बिहारी के विप्रलंभ शृंगार और तदंतर्गत विरह-वर्णन आदि के संबंध में जो कुछ लिखा गया उससे स्पष्ट है कि बिहारी ने विरह-वर्णन तो ऊहात्मक करके बिगाड़ दिया है, पर अन्यत्र प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन करने में अपनी व्यापक अनुभूति और निरोक्षण-शक्ति का परिचय दिया है । कामदशाओं में से स्मरण, चिंता आदि के वर्णन के अतिरिक्त व्याधि पर ही उनकी विशेष दृष्टि रही है । केवल व्याधि पर अधिक दृष्टि रखने के कारण ही विरह-ताप, क्षीणता आदि के अत्युक्तिपूर्ण वर्णन में ही वे लगे रहे । यह परंपरा की खूबी थी ! जहाँ उन्हें परंपरा के भीतर ही उन्मुक्त क्षेत्र मिला उन्होंने अपनी काव्य-मर्मज्ञता का अच्छा परिचय दिया । भही परंपरा के फेर में हिंदी के कितने ही कवियों का सच्चा और उत्कृष्ट रूप निखरने नहीं पाया । उन्हीं में से एक बिहारी भी थे । भूषण ने वीर रस की कविता लिखी, पर रीति-ग्रंथ की परंपरा में फँसकर अलंकार के पिटारे सजाने के कारण उनके वीर रस की व्यंजना दब-सो गई है । पर अलं-

कारों के शिकंजे से उन्मुक्त जहाँ उन्होंने स्वच्छंद रचना की है वहाँ अपनी वीरोन्मेषशालिनी प्रकृति और सामर्थ्य का पूर्ण परिचय दिया है। यह बात 'शिवा-बावनी' और 'छत्रसाल-दशक' की रचना के साथ 'शिवराज-भूषण' की रचना मिलाने से साफ जान पड़ती है। इसी प्रकार बिहारी भी परंपरा के चक्र में जहाँ पड़ जाते हैं उनकी काव्यानुभूति दब-सी जाती है। उन्होंने कोई लक्षण-ग्रंथ अवश्य नहीं लिखा, पर उनकी रचना है उसी लकीर को पीटनेवाली। पर जहाँ वे परंपरा से अलग या परंपरा के भीतर ही उन्मुक्त क्षेत्र पाते हैं वहाँ अपनी उदार हृदय-वृत्ति का परिचय भी बराबर देते हैं। बिहारी का यह दुरंगा रूप उनकी कविता भर में पाया जाता है।

भक्ति-भावना

भगवान् या उनकी भक्ति के संबंध में रचना करनेवाले कवि दो प्रकार के पाए जाते हैं । एक प्रकार के रचयिता तो वे हैं जो संसार के जंजाल से अलग होकर वैराग्य धारण करके भगवान् की शरण लेते हैं और दूसरे वे हैं जो वस्तुतः कवि होते हैं और समय-समय पर भक्ति के उद्गार उनकी रचना में प्रकट हो जाते हैं । मुक्तक-रचना करनेवाले कवियों के तो ये ही दो प्रकार दिखाई पड़ते हैं । पहले प्रकार के कवि भक्त या विरागी कवि कहे जा सकते हैं और दूसरे प्रकार के संसारी । भक्त कवियों की वाणी में किसी विशेष संप्रदाय के सिद्धांतों का प्रतिपादन भी पाया जा सकता है, पर संसारी कवियों की रचना में जो उद्गार मिलते हैं उनमें किसी प्रकार का मतवाद हूँदना अपने को भ्रम में डालना है । कहना यह चाहिए कि हिंदी में भक्ति का उपदेश देनेवाले भी कोई विशेष मतवाद लेकर नहीं चलते थे । सूर और तुलसी में किसी विशेष मत का प्रतिपादन नहीं मिलता । ये भक्त अपनी वाणी के द्वारा भगवान् की लीला का वर्णन करके लोगों के हृदय को प्रफुल्लित करना चाहते थे, उनके मानस को सरस बनाए रखना चाहते थे । मतवाद से ये लोग दूर ही रहा करते थे । दार्शनिक मतवादों में जिन सिद्धांतों या ज्ञान का निरूपण होता है वह बुद्धि से संबंध रखता है, पर भक्ति का क्षेत्र हृदय है । इसलिए ये भक्त कवि ज्ञान के क्षेत्र का निरूपण करने नहीं गए । कविता और

भक्ति दोनों का घनिष्ठ संबंध हृदय से है, इसलिए इन भक्त कवियों की कविता अधिक लोगों के हृदय का रंजन कर सकने में समर्थ हुई। ऐसे भक्त ज्ञानमार्ग का विरोध नहीं करते थे, वे उसे भी ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग मानते थे पर उस मार्ग को कठिन बतलाते थे। तुलसीदासजी ने बराबर कहा है कि वह मार्ग खरा है, पर उसपर चलना कठिन है, भक्ति का मार्ग सरल है—

करम, उपासन, ज्ञान वेदमत सो सब भाँति खरो ।

मोहिं तो सावन के अंधहि ज्यों सृस्त रंग हरो ॥

—विनयपत्रिका, २२६ ।

इतना होने पर भी तुलसीदास की रचना में से फुटकर कथनों को नोच-नोचकर कुछ लोग उन्हें अद्वैतवादी कहते हैं तो कुछ लोग विशिष्टाद्वैतवादी। कुछ लोग उन्हें शाक्त कहते हैं तो कुछ लोग वैष्णव। तुलसीदास की तो बात ही जाने दीजिए, कुछ लोग बिहारी का एक ही दोहा सामने रखकर उन्हें अद्वैतवादो'कहने लगते हैं। उन लोगों को जानना चाहिए कि बिहारी ऐसे कवि सब प्रकार की रचना करनेवालों में से हैं। जिस समय जिस प्रकार की उक्ति सूझ गई वैसी ही रचना कर दी। किसी विशेष सिद्धांत को लेकर कुछ कहना इन लोगों की मुक्तक-रचना-पद्धति के विरुद्ध था।

यही नहीं अपने को सब प्रकार के मतवाद से अलग करने के विचार से ही बिहारी इस प्रकार की बात भी कह देते हैं—

अपनै अपनै मत लगे बादि मचावत सोरु ।

ज्यों त्यों सबकौं सेइबौ एकै नंदकिसोरु ॥

—बिहारी-स्तवसई, ५८१ ।

फिर भी उन्हें किसी मतवाद में फँसा मानना कहाँ तक उचित है सहृदय ही समझें !

निर्गुण और सगुण का भेद भी बिहारी में नहीं किया जा सकता । रामभक्ति और कृष्णभक्ति का भेद भी ढूँढना ठीक नहीं । इस प्रकार के कवि सामान्य रूप से ही सब प्रकार की उक्तियाँ कहते थे । निर्गुण की व्यापकता को प्रदर्शित करने के लिए बिहारी इस प्रकार की उक्तियाँ कहते हैं—

दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन-बिस्तारन-काल ।

प्रगटत निर्गुन निकट रहि चंग-रंग भूपाल ॥

—बिहारी-सतसई, ४२८ ।

बिहारी निर्गुण ही के संबंध अपनी उक्तियाँ नहीं लिखते रहे, उन्होंने अपने को सगुण के गुणों में भी बाँधने की बात कही है—

मोहूँ दीजै मोयु, ज्यों अनेक अधमनु दियौ ।

जौ बाँधैही तोयु, तौ बाँधौ अपनै गुननु ॥

—बिहारी-सतसई, २६१ ।

मथुरा का निवासी समझकर या शृंगार रस की कविता लिखनेवाला मानकर इन्हें कृष्णोपासक कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि जिस प्रकार वे लिखते हैं—

कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार ।

मो संपति जदुपति सदा बिपति-बिदारनहार ॥

—बिहारी-सतसई, ६१ ।

ब्रजबासिन कौ उचित धनु जो धन रुचित न कोइ ।

सुचित न आयौ; सुचितई, कहौ कहाँ तैं होइ ॥

—बिहारी-सतसई, ५६१ ।

उसी प्रकार भगवान् राम के संबंध में भी कहते हैं—

यह बरिया नहिं और की, तू करिया वह सोधि ।

पाहन-नाव चढ़ाइ जिहिं कीने पार पयोधि ॥

—बिहारी-सतसई, ४०१ ।

बंधु भए का दीन के, को ताज्यो रघुराइ ।

तूठे तूठे फिरत हौ झूठे बिरद कहाइ ॥

—बिहारी-सतसई, ६१ ।

वास्तविक बात यह थी कि राम और कृष्ण में ये लोग कोई भेद नहीं समझते थे । भगवान् की एक सामान्य भावना लेकर ही अपनी उक्तियाँ गढ़ा करते थे । यही कारण है कि राम की लीला कृष्ण के नाम पर और कृष्ण की लीला राम के नाम पर कह देते थे । सूर और तुलसी ने भी ऐसा किया है । उनके बाद तो जितने कवि हुए उन्होंने बिना किसी भेदभाव के ही उन लीलाओं को ग्रहण किया । बिहारी भी कहते हैं—

कौन भाँति रहिहै बिरदु अब देखबी मुरारि ।

बीधे मोसौं आइकै, गीधे गीधहिं तारि ॥

—बिहारी-सतसई, ३१ ।

‘गीध’ को तारनेवाले राम थे, मुरारि नहीं ।

इसके अतिरिक्त एक बात और ध्यान देने योग्य है । भक्ति की रचना करते समय कवि अपने को पापी, कुकर्म और पतित कहा करते हैं । सूरदास और तुलसी ने भी अपने को ‘पतितों का टीका’ कहा है । ऐसी ऐसी उक्तियों को लेकर कुछ लोग बिहारी को भारी पापी, शोहदा, अनाचारी आदि समझते और लिख देते हैं । भक्ति की भूमिका में अपने को दीन, पापी आदि कहने का

जो विधान है उसकी ओर दृष्टि न रखकर जो लोग ऐसी हिमा-
कत करते हैं उनकी समझ को क्या कहा जाय । बिहारी तो
बिहारी, सूर और तुलसी को भी यही कहना पड़ेगा । पर क्या
यह बात घोर साहित्यिक अपराध नहीं है । भगवान् की भक्ति के
लिए अपने आचरणों का यह व्याख्यान क्या कवि को पातकी
सिद्ध करता है—

(कीजै चित सोई तरे, जिहि पतितन के साथ ।

मेरे गुन-औगुन-गनन, गनौ न गोपीनाथ ॥

—बिहारी-सतसई, २२१ ।

ज्यों ह्वैहों त्यों होउँगो हों, हरि, अपना चाल ।

हटु न करौ अति कटिनु है, मो तारिबो गुपाल ॥

—बिहारी-सतसई, ७०१ ।

तौ, बलिये, भलिये बना नागर नंदकिसोर ।

जौ तुम नीकें के लख्यौ मो करनी की ओर ॥

—बिहारी-सतसई, ६२१ ।

बिहारी भक्त तो थे नहीं, वे कवि थे, इसलिए उनके भक्ति
के उद्गार कवित्व के रूप में ही हैं । ऊपर जितनी उक्तियाँ उद्धृत
की गई हैं वे वाग्वैदग्ध्य से पूर्ण हैं, उनमें बाँकपन भी बराबर
मिलता है । देखिए इस दोहे में कैसा बाँकपन है—

करौ कुबत जगु कुटिलता तजों न दानदयाल ।

दुखी होहुगे सरल हिय बसत त्रिभंगी लाल ॥

—बिहारी-सतसई, ४२५ ।

इसी प्रकार की वक्रोक्ति या वचनभंगी को कुंतल ने बड़ी
प्रशंसा की है । ऐसी उक्ति को लेकर अगर कोई कवि को अना-
चारी कहने को उतारू हो जाय तो उसके दिमाग की दवा हो क्या !

कवि होने ही के कारण बिहारी ने बराबर भक्ति-संप्रदाय का दैन्य ही नहीं दिखलाया है, 'उपालंभ' आदि की उक्तियाँ भी उसी चाव से बाँधी हैं, ईश्वर के विरुद्ध और अपने पातित्य की होड़ भी लगाई है, कुटिलता न तजने की बात तो ऊपर आहो चुकी है —

नीकी दर्ई अनाकनी फीकी परी गुहारि ।
तज्यौ मनौ तारन-बिरदु, बारक बारन, तारि ॥

—बिहारी-सतसई, ११ ।

थोरैही गुन रीझते बिसराई वह बानि ।
तुमहूँ कान्ह मनौ भए आज काल्हि के दानि ॥

—बिहारी-सतसई, ६८ ।

कब कौ टेरतु दीन रट होत न स्याम सहाइ ।
तुमहूँ लागी जगत-गुरु जगनाइक जग-बाइ ॥

—बिहारी-सतसई, ७१ ।

मोहिं तुम्हें बाढ़ी बहस को जीतै जदुराज ।
अपनै अपनै बिरद की दुहूँ निबाहन लाज ॥

—बिहारी-सतसई, ४२७ ।

कहीं-कहीं बिहारो ने प्रसिद्ध दार्शनिक दृष्टान्तों का भी इस प्रकार की कविता में प्रयोग किया है. पर कुछ हेरफेर के साथ । जैसे यह दृष्टान्त—

मैं समुझ्यौ निरधार यह जगु काँचो काँच सौ ।
एकै रूपु अपार प्रतिबिंबित लखियतु जहाँ ॥

—बिहारी-सतसई, १८१ ।

दार्शनिक लोग अधिकतर घट और सूर्य-प्रतिबिंब का दृष्टान्त देते हैं ।

बिहारी की कोई कोई उक्ति बाबा लोगों की उक्ति से ठोक ठोक मिल जाती है। जैसे यह उक्ति—

या भव-पारावार कौं उलँघि पार को जाइ ।
तिय-छवि-छायाग्राहिनी ग्रहे बीचहीं आइ ॥

—बिहारी-सतसई, ४३३ ।

भगवान् की भक्ति के लिए हृदय में सच्चा भाव होना चाहिए, इसको बिहारी भी स्वीकार करते हैं। कपट को बिना त्यागे भगवान् का सच्चा भजन नहीं हो सकता। इसीलिए वे कहते हैं—

जपमाला छापें तिलक सरै न एकौ कामु ।
मन काँचे नाचै वृथा, साँचे राचै रामु ॥

—बिहारी-सतसई, १४१ ।

तौ लगु या मन-सदन में हरि आवैं किहिं बाट ।
बिकट जटे जौ लगु निपट खुटैं न कपट-कपाट ॥

—बिहारी-सतसई, ३६१ ।

वे कबीर आदि भक्तों की भाँति कहते हैं कि सुख और दुःख दोनों में भगवान् का ध्यान रखना चाहिए। दुःख पड़ने पर 'हाय दैया' करने की आवश्यकता नहीं, ईश्वर ने विपत्ति दी है तो उसे उसी प्रकार ग्रहण करना चाहिए जिस प्रकार सुख को ग्रहण किया—

दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साईंहिं न भूलि ।
दई दई क्यों करतु है, दई दई सु कूलि ॥

—बिहारी-सतसई, ५१ ।

शुद्ध भक्त की भाँति उनकी भी भगवान् से यही प्रार्थना है कि—

हरि, कीजति विनती यहै तुमसों बार हजार ।
जिहिं तिहिं भाँति ड्यौरह्यौ, पन्यौरहों दरबार ॥

—विहारी-सतसई, २४१ ।

ऊपर विहारी की भक्ति-संबंधी रचना का जो विश्लेषण किया गया है उससे स्पष्ट है कि इनकी कविता में सब प्रकार की भावनाएँ मिलती हैं । जिस अवसर पर जो बात सूझी उस अवसर पर उसीको अपनी उक्ति में बाँध दिया । भक्ति की जो सामान्य भावना आगे के कवियों में दिखाई पड़ती है, विहारी की कविता उसका पूर्व आभास देती है । तुलसी आदि के प्रयत्न से सांप्रदायिकता का बाँध टूट जाने से भक्ति की रचना को जो विस्तार प्राप्त हुआ वह विहारी में भी मौजूद है और आगे के कवियों में भी मिलता है । विहारी की यह कविता भी अपनी विशेषता बराबर लिए हुए है । उनकी वाणी का बाँकपन भक्ति-संबंधी इन उद्गारों में भी बराबर मिलता है । सूखी भक्ति की उक्तियाँ विहारी ने नहीं लिखी हैं, वे उनके कवित्व से बराबर सरस होकर सामने आई हैं ।

भाव-व्यंजना

भाव व्यंग्य होते हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है। व्यंग्य होने का तात्पर्य यही होता है कि भावों का नाम लेने से उनकी अनुभूति नहीं होती, उनकी अनुभूति उत्पन्न करने के लिए ऐसी सामग्री एकत्र करनी होती है जिससे बिना नाम लिए ही उनकी अनुभूति हो सके। बिना सामग्री के जब किसी भाव का नाम ले लिया जाता है तो स्वशब्दवाच्यत्व दोष माना जाता है। काव्य-शास्त्रियों के अनुसार तो भावों का नाम लेना ही नहीं चाहिए, अनुभावों के द्वारा उनकी व्यंजना करनी चाहिए। पीछे अनु-भाव-विधानवाले प्रकरण में बतलाया जा चुका है कि विहारी का यह विधान कितना सच्चा है। यहाँ पर भाव-व्यंजना के संबंध में कुछ और बातों पर विचार करना है।

स्थायित्व और अस्थायित्व के विचार से रीतिकारों ने भावों के दो विभाग किए हैं, एक प्रकार के भाव स्थायीभाव कहे जाते हैं और दूसरे प्रकार के भाव अस्थायी या संचारी। स्थायीभाव वे हैं जो किसी दूसरे प्रकार के भाव के कारण विकार को प्राप्त नहीं होते, पर संचारी भाव थोड़ी देर के लिए ही आते हैं और स्थायी भावों की सहायता करके चले जाते हैं। इसी लिए संचारी भाव सहकारी भाव भी कहे जाते हैं, वे स्थायीभावों के सहायक या सहकारी होते हैं। जिस प्रकार स्थायीभाव व्यंग्य होते हैं उसी प्रकार संचारी भाव भी। उनकी भी व्यंजना करनी होती है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि विहारी ने दोनों प्रकार के भावों की व्यंजना की है, उन्हें वाच्य नहीं रखा है। विहारी में मुख्य रूप में शृंगाररस ही है इसलिए रति स्थायोभाव के ही अनेक उदाहरण मिलेंगे। विहारी ने किसी किसी दोहे में रसाभ्यासियों के अनुसार रस के चारों अवयव बड़े सुंदर ढंग से जुटा दिए हैं। पर स्मरण रखना चाहिए कि रस-व्यंजना में यह आवश्यक नहीं होता कि सभी अवयवों का कथन किया ही जाय। जिन अंगों का कथन नहीं होता उनका स्वभावतः आक्षेप कर लिया जाता है। इतना ही नहीं, कुछ रस ऐसे भी होते हैं जिनकी व्यंजना के लिए केवल आलंबन का ही यथावत् वर्णन कर देना पर्याप्त होता है। हास्यरस में हास के आलंबन का ही वर्णन पर्याप्त होगा। इसी प्रकार यदि शृंगार-रस में केवल आलंबन का ही वर्णन हो तो भी रस-व्यंजना मान ली जायगी। शृंगार-रस के आलंबन नायक-नायिका के शिख-नख का वर्णन इसी लिए इसके भीतर ही माना जाता है।

शृंगार के अतिरिक्त विहारी में और रसों के भी दो-एक दोहे मिलते हैं। जैसे मिर्जा राजा जयशाह की प्रशंसा के कुछ दोहे वीर-रस के अंतर्गत माने जा सकते हैं, यद्यपि उनमें रस की पूरी सामग्री नहीं है, उन्हें भावदशा तक ही मानना चाहिए। दो-एक दोहे हास्य-रस के भी हैं, यद्यपि हास्य उत्तम कोटि का नहीं कहा जा सकता। जैसे इन दोहों में—

बहु धनु लै, अहसानु कै, पारौ देत सराहि ।

बैदबधू, हँसि भेद सौं, रही नाह-मुँह चाहि ॥

इस दोहे में प्रश्न यही उठ सकता है कि हास का आलंबन क्या है। यहाँ वैद्यजो हास के सीधे आलंबन नहीं हैं, हास का सीधा आलंबन उनकी भूठी प्रशंसा है। चारों अवयव भी ढूँढ़े जा सकते हैं। बधू का हँसना, पति का मुँह ताकने लगना अनुभाव हैं। स्मृति संचारी भाव है।

दूसरा उदाहरण लीजिए—

चिन पित-मारक-जोगु गनि, भयौ, भयें सुत, सोगु ।

फिरि तुलस्यौ जिय जोइसी, समुझें जारज-जोगु ॥

---विहारी-सतसई, ५७५ ।

यहाँ भी 'ज्योतिषा' जो हास्य के आलंबन हैं। क्योंकि 'जारज-योग' से प्रसन्न होना भी उनकी अज्ञता ही है। केवल आलंबन का ही, उसकी मूर्खता का ही निरूपण हास्य-रस की उत्पत्ति के लिए पर्याप्त होता है। यहाँ आश्रय, अनुभाव आदि का ब्यौरा नहीं है, पर हास उत्पन्न करने में यह रचना समर्थ है।

कहीं कहीं इसी प्रकार का हास शृंगार का संचारी बनकर भी आया है, जैसे इस दोहे में—

परनिय-दोषु पुरान सुनि, लखि मुलकी सुखदानि ।

कसु करि राखी मिश्र हूँ, सुँह-आई सुसकानि ॥

---विहारी-सतसई, २६४ ।

यहाँ पर हास्यरस न मान कर हास भाव ही मानना चाहिए, क्योंकि हास का किंचित् वर्णन है और साथ ही वह रति भाव में संचारी का काम कर रहा है, इसलिए स्वतंत्र हास भी नहीं कहा जा सकता।

इस पचड़े को यहीं छोड़कर कुछ अन्य प्रकार की भाव-

व्यंजनाओं के उदाहरण देखने चाहिए । संचारी भावों की संख्या यों तो बहुत हो सकती है, पर मोटे रूप में ३३ संचारियों की गणना की गई है । अन्य संचारी भावों का इन्हीं में से कुछ में अंतर्भाव कर दिया गया है ।

‘छल’ नाम का एक स्वतंत्र संचारी भाव रसतरंगिणीकार ने माना है, यह वही ‘छल’ है जिसे हिंदी में पहले-पहल ‘देव’ के ग्रंथ में देखकर कुछ लोग चौंक पड़े थे और दूसरों को उसी ‘छल’ के अस्त्र से धमका रहे थे । संचारी भाव बहुत हो सकते हैं, नये-नये संचारी भी आ सकते हैं, ‘छल’ ही क्या है ! पं० रामचन्द्र शुक्लजी ने तुलसी के इस दोहे में ‘चकपकाहट’ नाम का नया संचारी दिखाया है—

बाँधे वननिधि ? नारनिधि ? जलधि ? सिधु ? बारीस ?

सत्य तोयनिधि ? कंपता ? उदधि ? पयोधि ? नदीस ?

—रामचरितमानस ।

इसमें और लोग आवेग संचारी मानते हैं । पर ध्यान देने से आवेग से और इससे थोड़ा अंतर दिखाई पड़ेगा । आवेग में जो घबड़ाहट होती है वह किसी कार्य को पूर्ति शीघ्र से शीघ्र हो जाने की तत्परता की ओर उन्मुख रहती है, क्योंकि जहाँ अनिष्ट से आवेग होता है वहाँ त्रास भी रहता है । इसे आवेग इसी लिए कहा जाता है कि किसी आशंका से किसी कार्य की पूर्ति शीघ्र करने के लिए यह प्रवृत्त करता है, और तेजी से प्रवृत्त करता है । उक्त दोहे में ऐसी बात नहीं है । रावण घबड़ाकर यह नहीं कहता कि खड्ग लाओ, धनुष लाओ; या भागो, शीघ्रता करो । वह राम द्वारा समुद्र के बँध जाने पर केवल आश्चर्य करके रह जाता

है। आवेग में संभ्रम होता अवश्य है, पर वह शुद्ध नहीं होता; उसमें और कियाँ भी अपेक्षित हैं। पर यहाँ शुद्ध चकपकाहट ही है। हाँ, यदि संचारियों की संख्या बढ़ाना इष्ट न हो तो चकपकाहट को आवेग के भीतर ही रख सकते हैं।

संचारी भावों में एक बात और ध्यान देने की है। रीतिकारों ने जिन संचारियों को गणना कराई है वे सभी भाव नहीं हैं, अर्थात् वे सभी हृदय की वृत्तियाँ नहीं हैं, कुछ तो बुद्धि की वृत्तियाँ हैं, जैसे तर्क आदि और कुछ शरीर के धर्म हैं, जैसे निद्रा, स्वप्न, श्रम आदि। इसलिए संचारी भाव की शास्त्रीय परिभाषा यह होगी कि जो भाव, वृत्तियाँ—चाहे वह हृदय की हों, चाहे बुद्धि की और चाहे शरीर की—स्थायीभावों की सहायता करें वे ही संचारी भाव हैं। संचारी भाव की इस परिभाषा के अनुसार यह बात भी ध्यान में रखने की है कि स्वतंत्र रूप से यदि किसी भाव की व्यंजना है और वह हृदय में अनुभूति उत्पन्न करता है तभी वह संचारी भाव कहा जायगा। यदि वह भाव अनुभूति उत्पन्न करने में सहायक नहीं है तो संचारी नहीं कहला सकता। तात्पर्य यह है कि संचारियों में जो हृदय की वृत्तियाँ हैं वे स्वतंत्र रूप में भी आ सकती हैं और अनुभूति उत्पन्न कर सकती हैं, पर जो शरीर के धर्म हैं और बुद्धि के व्यापार हैं यदि वे केवल स्वतंत्र रूप में आवें तो न तो किसी प्रकार की अनुभूति उत्पन्न करेंगे और न संचारी कहलाने के अधिकारी होंगे। जैसे यदि किसी ने व्यायाम किया है और उसके शरीर से पसीने की बूँदें निकल रही हैं, वह थक गया है तो वहाँ श्रम संचारी नहीं माना जा सकता। पर यदि किसी वीर ने अपने हथियारों का कौशल रण में दिखाया है, वहाँ

वह विश्राम कर रहा है, उसके मुख पर या शरीर पर पसीने की बूँदें हैं, वह श्रान्त है तो वहाँ श्रम संचारी माना जायगा ।

बिहारी के दोहों में अधिकांश संचारी भाव मिल सकते हैं । पर सबके उदाहरण देना संभव नहीं, किसी लक्षण की पुस्तक के लिए ही उन सब उदाहरणों का जुटाना उपयुक्त हो सकता है । इसलिए संचारी भावों पर और प्रकार से विचार करना चाहिए । बिहारी ने अपने दाहों में रूपवर्णन अधिक किया है । यह रूपवर्णन कहीं तो हर्ष संचारी के रूप में है और कहीं स्मरण संचारी के रूप में । इस प्रकार के सीधे रूपवर्णन हमारे विचार से, जहाँ सखी आदि का उल्लेख नहीं है, नायक की ही उक्ति माने जायेंगे और नायक की उक्ति मानने पर वे या तो हर्ष संचारी के रूप में आवेंगे या स्मरण संचारी के रूप में । यदि नायिका सामने होगी तो हर्ष संचारी और यदि नायक का कोरा कथन होगा तो स्मरण संचारी । ऐसे दोहों में सब जगह सखी की उक्ति मानना ठीक नहीं । जैसे यह दोहा—

क्षीनै पट मैं झुलमुली, झलकति ओप अपार ।

सुरतरु की मनु सिंधु मैं लसत सपल्लव डार ॥

—बिहारी-मतसरै, १६ ।

इसे सखी की उक्ति न मानकर नायक की उक्ति मानना ही समीचीन और उपयुक्त जान पड़ता है । वर्णन के ढंग और क्रिया से नायिका सामने प्रस्तुत मानी जायगी, इससे यहाँ हर्ष संचारी ही होगा ।

दूसरा उदाहरण लीजिए—

सालति है नटसाल सी, क्यों हूँ निकसति नाँहि ।

मनमथ-नेजा-नोक सी खुभी खुभी जिय माँहि ॥

—विहारी-सतसई, ६ ।

इस दोहे में नायक नायिका की खुभी का स्मरण करता हुआ माना जायगा । सीधे नायिका के प्रति नायक की उक्ति मानना ठीक नहीं जँचता । हाँ, नायिका की सखी या दूती के प्रति नायक का कथन माना जा सकता है ।

संचारियों को यहाँ छोड़कर भावों के और स्वरूपों पर ध्यान देने की आवश्यकता है । भावोदय, भावसंधि, भावशांति, भावशबलता आदि के उदाहरण भी विहारो में बड़े उत्तम मिलते हैं; विशेषतया भावसंधि और भावशबलता के । भावसंधि का एक उदाहरण लीजिए—

करे चाह सों चुटकि के खरें उड़ीहें मैंन ।

लाज नवाएँ तरफत, करत खूँद-सी नैन ॥

—विहारी सतसई, ५४२ ।

इस दोहे में चाह (उत्सुकता) और लाज (ब्रीड़ा) इन दो भावों की संधि है । इस दोहे में भाव-संधि के अतिरिक्त और भी एक खूबी है । इसमें रूपक अलंकार व्यंग्य है । यह उदाहरण इतना साफ है कि रीतिकारों के ग्रंथ में भी ऐसे उदाहरण कम मिलते हैं ।

भावशबलता का एक उदाहरण लीजिए—

कहत, नटत, रीक्षत, खिश्त, मिलत, खिलत, लजियात ।

भरे भौन मैं करत हैं, नैननु हीं सब बात ॥

—विहारी-सतसई, ३२ ।

यहाँ एक साथ कई प्रकार के भाव उठ रहे हैं इसलिए भाव-शबलता है। इसमें विशेषता यही है कि दोनों पक्षों (नायक एवं नायिका) में भाव-शबलता है।

भावोदय और भावशांति दोनों वस्तुतः एक ही स्थान पर होते हैं, क्योंकि बिना किसी भाव के शांत हुए किसी भाव का उदय नहीं होता और भावशांति के अनंतर भी किसी न किसी भाव का उदय होता ही है। वस्तुतः इन दोनों को रीतिशास्त्र के अनुसार अलग-अलग दिखाना मात्र उद्देश्य था। इसीलिए दोनों में भेद यह किया गया है कि जहाँ भाव के उदय में अधिक चमत्कार हो वहाँ भावोदय और जहाँ भाव की शांति में अधिक चमत्कार हो वहाँ भावशांति होती है। पर कितने ही आचार्य इस बात को नहीं मानते। बिहारी का एक उदाहरण देखिए—

विधुच्यौ जावकु सौति-पग निरखि हँसी गहि गँसु।

सजल हँसोंहीं लखि लियो आधी हँसी उसँसु ॥

—बिहारी-सतसई, ५०७।

यहाँ असूया भाव की शांति और विषाद का उदय है। यदि चमत्कार की दृष्टि से मानें तो यहाँ विषाद में अधिक चमत्कार होने से भावोदय मानना पड़ेगा। ऊपर ज्योतिपीवाला जो उदाहरण दिया गया है उसमें भी शोक की शांति और हर्ष का उदय है।

बिहारी की कविता में भावसंधि और भावशबलता के बहुत से उदाहरण मिलेंगे और वे बहुत स्पष्ट मिलेंगे। भावोदय आदि के इन उदाहरणों में भी रस ही मानना पड़ेगा। स्मरण रखना चाहिए कि किसी भाव या भावसंधि आदि की अनुभूति भी रसरूप ही

मानी जायगी । हाँ, किसी भाव का रसदशा तक पहुँचना भले ही न मानें, उसे भावदशा तक ही रखें, पर अनुभूति सबकी रस रूप ही होगी । यही नहीं भावभास और रसाभास की अनुभूति भी रसरूप ही मानी जायगी । यह बात दूसरी है कि उनका आस्वाद वैसा उत्तम नहीं माना जा सकता ।

भाव-व्यंजना के अतिरिक्त विहारी में अलंकार-व्यंजना और वस्तु-व्यंजना के भी अच्छे उदाहरण मिलते हैं । वस्तु-व्यंजना में विरह की उक्तियाँ, सुकुमारता आदि की उक्तियाँ आती हैं । इनका उल्लेख पिछले अध्यायों में थोड़ा-बहुत हो चुका है, इसलिए उनकी पुनरुक्ति यहाँ अपेक्षित नहीं है । केवल इतना ही कह देना पर्याप्त है कि विहारी में वस्तु-व्यंजना अधिकतर रूढ़ि के सहारे पर ही की गई है और जहाँ उसमें ऊहा अधिक है वहाँ वह खेलवाड़ के रूप में हो है । पर भाव-व्यंजना के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता । भाव की व्यंजना अपनी प्रकृत पद्धति पर चलती है और उसमें रस-मग्न करने की क्षमता अधिक है ।

वाग्वैदग्ध्य और उक्ति-वैचित्र्य

किसी कवि में वाग्वैदग्ध्य की जितनी अधिक शक्ति होगी, वह अपने कवित्व का निर्वाह उतना ही अधिक कर सकेगा। वाग्वैदग्ध्य से तात्पर्य है वाणी की अभिव्यंजन-शक्ति से। जिनका भाषा पर अच्छा अधिकार होगा, जो यह जानते होंगे कि किसी शब्द में विभिन्न प्रकार के भावों को व्यक्त करने की शक्ति कहाँ तक है, जो अपने यहाँ की काव्यशैली से पूर्णतया परिचित होंगे, जिन्होंने संसार में नाना प्रकार के अनुभव प्राप्त किए होंगे, जिनके हृदय में अनुभूति के लिए पूरी जगह होगी, जो किसी रचना के भीतर शब्दों को बैठाने की कारीगरी जानते होंगे, जो कथन के बाँकपन से भली भाँति परिचित होंगे वे ही वाग्वैदग्ध्य में निपुण हो सकते हैं, वे ही अपनी वाणी में वह करामात दिखा सकते हैं जिसपर सहृदय लोट-पोट होते हैं, जिस कारीगरी के कारण उनकी रचना बारंवार पढ़ी जाती है, जिस चमत्कार के कारण लोग यह कहते हुए सुने जाते हैं कि 'इसे फिर से सुनाइए'। यदि श्रोता न होकर वे पाठक होते हैं तो पढ़ते हुए स्वयं ही उसमें मग्न होने लगते हैं। यद्यपि यह बात सही है कि भाव की ही उत्तमता कविता में प्रधान होती है, पर भाव की उत्तमता के साथ-साथ यह भी आवश्यक होता है कि उसको व्यक्त करने की शैली भी उतनी ही उत्तम हो। यदि वैसी शैली नहीं होगी तो भाव उत्तम से उत्तम होकर भी पाठक या श्रोता के हृदय में भाव की तद्रूप अनुभूति उत्पन्न करने में समर्थ

न हो सकेगा और काव्य का उद्देश्य पूर्ण न होगा। इसलिए वही कवि समर्थ कवि कहा जा सकता है जिसमें भाव के साथ-साथ उसको व्यक्त करने की, उसकी अनुभूति पाठक के हृदय में उत्पन्न करने की क्षमता भी हो। दूसरे शब्दों में कहना हो तो कहिए कि जिसमें हृदय-पक्ष के साथ-साथ कला-पक्ष भी वैसा ही हो। जहाँ कला-पक्ष प्रधान हो जायगा वहाँ काव्य की क्षति पहुँच सकती है या पहुँचती है, पर केवल हृदय-पक्ष रहने पर या कला-पक्ष का वित्कुल संयोग न होने पर भी कविता उतनी हृदय-प्रावी नहीं हो सकती। केशव में कला-पक्ष की प्रधानता थी और उसमें भी भली कला को ही उन्होंने ग्रहण किया, इसलिए वे 'कठिन काव्य के प्रेत' कहे जाने लगे। जायसी में हृदय-पक्ष की प्रधानता रही, पर कला-पक्ष उतना नहीं रहा जितना होना चाहिए, फिर भी प्रबंध-काव्य होने से उनमें कला-पक्ष की कमी उतनी घातक नहीं हुई। पर मुक्तक-रचना में दोनों पक्षों की समता अपेक्षित होती है। चाहे महफिली कविता में लोग कला-पक्ष की ही प्रधान रखते रहे हों और उसके कारण उन्होंने 'बाहवाही' भी खूदा हो, पर मुक्तक-रचना का प्रकृत रूप वही होगा जिसमें हृदय-पक्ष और कला-पक्ष सम हो।

कहने की आवश्यकता नहीं कि बिहारी में दोनों बराबर हैं। यही कारण है कि उनकी कविता का प्रचार दोनों प्रकार की रुचि-वालों के बीच रहा है और रहेगा। बिहारी में कला-पक्ष के भीतर वाग्वैदग्ध्य बहुत सच्चा पाया जाता है, इसलिए उनकी कविता लोगों को मस्त कर देती है। जिस मस्तानी शैली से बिहारी ने अपने दोहों की रचना की है वह शैली हिंदी में मुक्तक-रचना करनेवाले

कवियों में से बहुत कम को प्राप्त हो सकी है। यहाँ वाग्वैदग्ध्य बिहारी की कविता का प्रसार करने में सहायक हुआ है और यही कारण है कि सभी युगों में लोग उनकी सतसई की नवीन ढंग से टीका करने के अभिलाषी बने रहे। इस युग की भी तीन टीकाएँ, जो अपने-अपने ढंग की अनोखी हैं, प्रसिद्ध ही हैं। संजीवन भाष्य में पंडित पद्मसिंह शर्मा ने एक-एक शब्द की खूबी समझाने का प्रयत्न किया है—एक-एक पद की शक्ति, उसका औचित्य, अन्य शब्दों के सहचर्य में उसका चमत्कार—उन्होंने सब कुछ दिखाया है, खेद है कि वह पूरा निकल न सका। बिहारी-रत्नाकर में एक-एक शब्द के रूप पर व्याकरण की दृष्टि से, उसके अर्थ-व्यक्त करने की दृष्टि से ध्यान रखा गया है। बिहारी-बोधिनी में अलंकारों और प्रसंग-कल्पना पर दृष्टि रखी गई है।

इस भगड़े को यहीं छोड़कर बिहारी की रचना में से कुछ उदाहरण देखने चाहिए। उनके वाग्वैदग्ध्य में क्या विशेषता है, यह भी ध्यान में रखने की बात है। पहले ही कहा जा चुका है कि बिहारी के प्रत्येक दोहे का एक स्वतंत्र लक्ष्य है—कहीं किसी भाव को व्यक्त करना, कहीं किसी मुद्रा का निरूपण, कहीं किसी अलंकार की छटा दिखाना, कहीं किसी वस्तु की व्यंजना, कहीं किसी तथ्य का कथन, या कहीं किसी दशा का वर्णन आदि। किसी मुक्तक-रचना के लिए कोई न कोई स्पष्ट लक्ष्य होना ही चाहिए। यह हम बिहारी में बराबर पाते हैं, यह नहीं कि किसी समस्या को लेकर छंद की चार टाँगें जोड़ दीं। हिंदी में कवित्त-सवैया लिखनेवाले कितने ही कवि बिहारी के बाद ऐसे दिखाई पड़ते हैं जो छंद का चौथा चरण तो बढ़िया बना लिया करते

थे या कोई प्रसिद्ध समस्या ले लेते थे और शेष तीन टाँगें उसमें जोड़कर अपना घोड़ा कुदाने लगते थे। कुछ कवि बड़े-बड़े हाँसले पहले चरण से ही ~~चलते~~ चलते थे पर आगे चलकर टाँगें लड़खड़ा जाती थीं, वे चारों खाने चित्त गिर पड़ते थे। पर विहारी में ऐसी बात नहीं है उन्होंने अपने दोहों को ऐसा कसा है कि उसमें कहीं से भी शिथिलता नहीं दिखाई देती। यह कसावट शब्दों के रूप और वाक्यों की ही नहीं, अर्थ का भी है—वाग्वैदग्ध्य के कारण भी उसमें कसावट है। क्योंकि वाणी का चमत्कार दिखलानेवाले को शब्द समझकर रखने पड़ेंगे, वाक्य में शब्दों के स्थान का निश्चय बहुत ध्यान के साथ करना पड़ेगा। यहाँ तक कि प्रत्यय और विभक्तियों पर भी ध्यान रखना पड़ेगा। चारों ओर दृष्टि रखकर सावधानी के साथ ही वे कुछ कह सकते हैं, इसी लिए उनकी रचना नपी-तुली शब्दावली लेकर चलती है। यदि कहीं छंद का साँचा भी छोटा हुआ तो फिर कहना ही क्या ! देखिए विहारी का वाग्वैदग्ध्य कैसे अर्थद्योतन और रचना की कसावट का काम एक साथ करता है। पहला ही दोहा ले लीजिए—

मेरो भवबाधा हरौ राधा नागरि सोइ ।

जा तन का झाई परें स्यामु हरित-द्युति होइ ॥

—विगरान्तवसई, १ ।

इस दोहे में 'स्यामु' और 'हरित-द्युति' शब्द अपना अलग-अलग अर्थ लेकर किस प्रकार कवि की कारीगरी की सूचना दे रहे हैं ! 'हरित-द्युति' शब्द तो विहारी ने स्वयं गढ़ा है। एक ओर 'हरी चमक' (प्रफुल्लता) है तो दूसरी ओर 'हृत-द्युति' (चमक या रंग का बदल जाना)। यहाँ पर पूरा भाष्य करने की जगह

नहीं, विहारी के आधुनिक टीकाकारों ने इसपर काफी माथा लड़ाया है, यद्यपि कहीं-कहीं कई अर्थ निकालने की धुन में 'व्यासऊ' अर्थ कर डाले गए हैं। फिर भी चमत्कार का पूरा विस्तार देखने के लिए उन्हीं लोगों की शरण लेनी चाहिए।

दूसरा उदाहरण लीजिए—

त्यों त्यों प्यासेई रहत ज्यों ज्यों पियत अघाइ ।

सगुन सलोने रूप की जु न चख-नृपा तुझाइ ॥

[विहारी-सतसई, ४१७ ।

रूप का पान करने हुए नेत्रों की प्यास नहीं बुझती, जितना ही भ्रष्टाकर पीते हैं उतना ही और प्यासे हो जाते हैं। विरोध की तो बात ही अलग है, 'सलोने' शब्द में जैसा चमत्कार कवि ने रखा है वह मनोहर है। नमकीन चीज खाने पर प्यास लगती है, रूप भी स + लोना (लवण = नमक) है। इस साधारण दोहे में एक ही शब्द रखकर विहारी ने अपना वाग्वैदग्ध्य दिखलाया है।

एक दोहे में विहारी ने 'सूरन' के मुँह काटने की सामान्य बात लेकर उसका अच्छा निर्वाह किया है—

ललन सलोंने अरु रहे अति सनेह सों पागि ।

तनक कचाई दंत दुख सूरन लों मुँह लागि ॥

—[विहारी-मनसई, ३६३ ।

इस दोहे में सूरन की जो उपमा दी गई है उसका निर्वाह श्लिष्ट विशेषणों से बड़ी चतुरता के साथ किया गया है। सूरन कच्चा रहने पर मुँह काट लेता है। उसकी किनकिनाहट दूर करने के लिए नमक लगाकर उसका रस निकाल डालते हैं और उसे खूब तेल देकर भूजते हैं, फिर भी यदि भूजने में वह कच्चा रह गया

तो मुँह में लग ही जाता है । इस दोहे में सूरन और नायक के लिए दोहरे अर्थवाले शब्द रखे गए हैं । सलोने, मनेह, कचाई और मुँह लागि के दो-दो अर्थ हैं । इस दोहे में अलंकार ही का चमत्कार माना जायगा, पर विशेषता यह है कि इसमें कोई भी श्लिष्ट शब्द ऐसा नहीं है जो खींच-तान से अर्थ का संकेत करता हो । ऐसे चलते और चुने हुए शब्द लिए गए हैं जिनके दो-दो अर्थ बड़े मजे में गृहीत होते हैं, कष्ट कल्पना की कोई जरूरत नहीं । 'मुँह लगना' मुहावरा भी कैसा दोहरा अर्थ दे रहा है !

ऊपर दो-तीन उदाहरण बानगी के लिए दिए गए हैं । विहारी के दोहों में शब्दों का चुनाव ऐसा ही है जिसमें शब्द कई और साथ ही व्यंजक अर्थ लेकर बैठे हुए हैं । बहुत थोड़े दोहे मिलेंगे जिनमें यह व्यंजकता और संकेत न हो । इसीसे विहारी की काव्य-चातुरी और वचन-भंगिमा की सामर्थ्य का अनुमान किया जा सकता है ।

अब उक्ति-वैचित्र्य की ओर आइए । उक्ति-वैचित्र्य का तात्पर्य दूर की कौड़ी लाने या आसमानी उड़ान से नहीं है । जो लोग उक्ति-वैचित्र्य का यही अर्थ लेते हों उन्हें विहारा के विरह-वर्णन की उदात्तक उक्तियों की छानबीन करके अपना संतोष कर लेना चाहिए । उक्ति-वैचित्र्य से हमारा तात्पर्य किसी बात को स्पष्ट करने की युक्ति या किसी मुद्रा, रूप आदि को अपनी निरीक्षण-शक्ति से निरूपित करने की सामर्थ्य से है । उक्ति-वैचित्र्य को दिखाने की गुंजाइश पिछले प्रकरणों में भी थी, पर विषय जरा साफ करने के विचार से इसे अलग कर लिया गया है । किसी अवस्था को हृदयंगम कराने के लिए कभी-कभी विहारी ऐसी बात-लाते हैं जो

बहुत मौजू और उपयुक्त होती है । जैसे किसी के लड़कपन और यौवन की संधि को व्यक्त करने के लिए किसी ऐसे उदाहरण की आवश्यकता पड़ेगी जो दुःखा हो । किसी का लड़कपन एकदम हट जाय और सहसा यौवन आ धमके ऐसा तो होता नहीं, एक अवस्था ऐसी आती है जब दोनों की स्थिति बनी रहती है । इसे व्यक्त करने के लिए विहारी ने धूपछाँह नाम के कपड़े का उदाहरण रखा है । इस कपड़े में दो रंग ऐसे मिले रहते हैं कि दोनों की स्थिति के संबंध में यह निश्चय नहीं हो पाता कि कहाँ से एक समाप्त हुआ और कहाँ से दूसरा आरंभ हो गया । दोनों मिलेजुले और पृथक्-पृथक् साथ ही जान पड़ते हैं—

धृष्टी न सिसुता का झलक झलक्यो जोरनु अंग ।

दीपति देह दुःख निर्मि । दीपति ताकता-रंग ॥

—विहारी-स. ५२, ७० ।

शैशव और यौवन के लिए अलग-अलग उदाहरण देकर दोनों का वर्णन करना तो सरल है, पर दोनों के मेल का वर्णन कर सकना, उसके लिए ऐसा दृष्टांत देना जो उस अवस्था को हृदयंगम कराने में समर्थ हो कुछ कठिन बात है । पर विहारी ने यहाँ दोनों की मिली-जुली झलक के लिए ऐसा दृष्टांत दिया है जो उस स्वरूप को व्यक्त करने में भली भाँति समर्थ है ।

इसी प्रकार किसी का मन कभी-कभी किसी के सौंदर्य को देखते हुए उसमें इतना तल्लीन हो जाता है कि किसी तरह वहाँ से हटता ही नहीं । जैसे मन उसी रूप में समा गया हो । सौंदर्य में मन का समाना एक ऐसी क्रिया है जिसको समझाने के लिए सीधे शब्द समर्थ नहीं हो सकते, इसके लिए कोई उदाहरण अपे-

क्षित होता है। बिहारी ने इस तल्लीनता को हृदयंगम कराने के लिए पानी में घुले हुए नमक का दृष्टांत दिया है। नमक जब पानी में घुल जाता है तो चाहे उसको कितना ही छानिए, पानी में से नमक अलग नहीं किया जा सकता। मनमोहन के सौंदर्य में भी मन इसी प्रकार घुल मिल गया है, वहाँ से वह हटता हो नहीं—

कानें हैं कोरि क जतन अत्र कहि काढ़े कौनु ।

भो मन मोहन-रूपु मिलि पाना मैं कौ लौनु ॥

—बिहारी-मनमर्द, १८ ।

इसी प्रकार मुद्रा का निरूपण करने में भी बिहारी किसी मुख्य व्यापार को भूलते नहीं। प्रेमशरी दृष्टि से कटाक्ष करनेवाले किस अदा से प्रिय की ओर देखते हुए निकल जाया करते हैं, इसपर बिहारी की दृष्टि खूब जमी हुई थी। नायिका भौंह को ऊँचे करती हुई, आँचल को कंधों पर उलटती हुई, गर्दन को मटकाकर, मुँह फेरती हुई नेत्रों से नेत्र मिलाली हुई चली जा रही है—

भौंह उँचे, आँचल उलटि, मोर मोरि भुँदु मोरि ।

नीठि नीठि भीतर गई दीठि दीठि सों जोरि ॥

—बिहारी-मनमर्द, २४२ ।

दोहे में 'मोरि' शब्द दो बार आया है, पर दोनों का अर्थ अलग है। पहले 'मोरि' शब्द का अर्थ है मटकाकर और दूसरे का अर्थ है मोड़कर। टिठकते हुए भीतर जाने की अदा के लिए बिहारी ने 'नीठि नीठि' का व्यवहार किया है, वह मानों बड़ी मुश्किल से भीतर जा रही हो। नायिका के हृदय में जिस प्रेम-भाव का उदय हो रहा है उसकी एक एक चेष्टा क्रमशः व्यक्त

होती चलती है, सम्मिलित रूप में उस अंश का एक चित्र सामने आ जाता है। यह 'चित्र-कला' बिहारी की बड़ी भारी विशेषता है, जो हिंदी के कम कवियों में पाई जाती है।

बिहारी की उक्तियों में जो बौकल रहता करता है उसके उदाहरण पहले ही दिए जा चुके हैं। बिहारी की उक्तियों की यह विदग्धता, उनकी यह वचनभंगि, उनका यह वैचित्र्य ही लोगों को लुभाया करता है। यही उनका बिहारीत्व है जो उनको और कवियों से अलग करता है और यही वह विशेषता है जिसके कारण दूसरे कवियों के ऐसे ही दोहों को देखकर लोग कह दिया करते हैं कि यह रचना बिहारी की या बिहारी को सी जान पड़ती है। इसी प्रकार की विशेषता की झलक के कारण दूसरे कवियों के दोहे तक बिहारी के नाम पर चल पड़े।

नैंकौ उहि न जुदी करी, हरपि जुदी तुम माल ।

डर तैं बास छुट्यौ नहीं बास छुटैहूँ लाल ॥

—विहारी-सतसई, ६१६ ।

झुकि झुकि झपकौं हैं पलनु फिरि फिरि जुरि जमुहाइ ।

बीदि पिआगम, नींद-मिस, दीं सब अली उठाइ ॥

—विहारी सतसई, ५८६ ।

बुँदेलखंडी शब्दों और प्रयोगों के लिए विहारी के संबंध में कुछ कहने की बात ही नहीं है । 'खंड बुँदले वाल' के अनुसार वे लङ्कपन में वहीं रहे और बुँदेलखंडी केशव की पद्धति और कविता की कुछ विशेष बातों का मिलान करने से इन दोनों के घनिष्ठ संबंध का अनुमान भी दृढ़ होता है । कुछ लोग पिता-पुत्र का संबंध मानते हैं तो कुछ लोग गुरु-शिष्य का । खैर, लखवी, करबी, पायवा आदि की तो कोई बात नहीं, वह तुलसीदास आदि में भी मिलता है, जो अवधप्रान्त के थे । एक अव्यय 'स्यों', विहारी और केशव में बहुत मिलता है, जो खास बुँदेलखंड का है । इसका अर्थ संग या साथ होता है—

चिलकचिकनई चटक स्यों, लफति सटक लौं आइ ।

नारि सलैनी साँवरी नागिन लौं डसि जाइ ॥

विहारी-सतसई, १९६ ।

स्यों बिजुरी मनु मेह, आनि इहाँ विरहा धरे ।

आठौ जाम अछेह, दग जु वरत वरस्त रहत ॥

—विहारी-सतसई, ४४५ ।

पहले छंद में कुछ लोग 'स्यों' के स्थान पर 'सौं' पाठ भी रखते हैं । दूसरे छंद में 'इहाँ' भी अवधी का रूप है, व्रज में 'हाँ' होता है ।

‘स्यों’ का प्रयोग आगे चलकर और कवि भी उसी प्रकार करने लगे थे जिस प्रकार ‘लखिबी, पायबी’ आदि का । जैसे ठेठ अवध के रहनेवाले ‘दास’ भी इसका प्रयोग करते हुए पाए जाते हैं—

भ्यों ध्वनि अर्थनि वाक्पनि ले गुन सन्द अलंकृत सों रति पाकी ।

—काव्य-निर्णय, १-१८ ।

बुँदेलखंडी शब्दों के प्रयोग की तो कोई बात ही नहीं है, बीसियों शब्द बिहारी में ऐसे मिलेंगे जो खास बुँदेलखंड के हैं, पर पीछे उनमें से कुछ सामान्य-काव्य-भाषा में गृहीत हो गए और उनका धड़ले के साथ प्रयोग होने लगा । जैसे, लाने (लिए), वैर (बदनामी की चर्चा), कोद (ओर), चाला (द्विरागमन, बिदाई), गीधे, वीधे आदि । कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनका प्रयोग औरों ने नहीं किया—जैसे सद, सर्वा आदि ।

केशव की ह। आति एक प्रयोग और भी बिहारी में मिलता है, जिसका चलन ब्रज में नहीं हुआ या कम हुआ । ‘ने’ विभक्ति के साथ उत्तम पुरुष एक वचन का ‘मैं’ ही आता है, पर कर्त्ताकारक में ‘हैं’ भी आता है, यद्यपि इसके साथ ‘ने’ का प्रयोग नहीं होता । और कारकों में इसका प्रयोग नहीं हुआ करता, पर केशव ने इसको कर्म कारक में भी प्रयुक्त किया है—

पुत्र हों विधवा करी तुम कर्म कीन्ह दुरंत ।

—रामचंद्रिका :

बिहारी में भी ‘हैं’ का कर्मकारक में प्रयोग मौजूद है—

लोभ-लगे हरिरूप के करी साँट जुरि, जाइ ।

हैं इन बेची बीच हीं, लोइन बड़ी बलाइ ॥

—बिहारी-सतसई, १६५ ।

बिहारी ने एक प्रयोग और भी विचित्र किया है, वह केशव में भी नहीं मिलता । वह है 'चितई' का प्रयोग । 'चितवना' का भूतकालिक रूप ब्रज में 'चितयौ' होता है और लिंग-भेद से इसके स्वरूप में अंतर नहीं पड़ता । 'कान्हू चितयौ' भी होगा और 'राधा चितयौ' भी । पर बिहारी ने स्त्रीलिंग के साथ प्रायः चितई' ही लिखा है । 'रत्नाकर जी' का कहना है कि बिहारी ने इसका प्रयोग अकर्मक रूप में किया है । जैसे 'राधा हँसी, चली' आदि होता है, उसी प्रकार चितई' भी । पर बात ऐसी नहीं है, 'लखी' का प्रयोग भी बिहारी में मौजूद है । दोनों के उदाहरण देखिए—

रखौ मोटु मिलनौ रयौ यो कटि गहँ सरोर ।

उत दै सखिहि उराहनौ, इत चितई मो ओर ॥

—बिहारी-सतसई, ४२३ ।

सुनि पग-धुनि चितई इतै न्हाति दिये हीं पांठि ।

चकी, झुकी, सकुची, उठा, हँसी, लजा सी डोठि ॥

—बिहारी-सतसई, ६२३ ।

पति रति की बतियाँ कहीं, सखी लखी मुसकाइ ।

कै कै सबै टलाटलीं, अलीं चलीं सुखु पाइ ॥

—बिहारी-सतसई, २४ ।

लहि रति-सुखु लगिये हियें लखी लजोंहीं नीठि ।

खुलति न, मो मन बँधि रही वहै अधखुली डोठि ॥

—बिहारी-सतसई, ६५५ ।

इसलिए इसे पूरब का प्रभाव मान लें तो कैसा ! पूरबवाले जिस प्रकार वे कहे' कहते हैं उसी प्रकार 'पूरबी' की प्रवृत्ति के अनुसार 'कैकयी कही, देखी' आदि भी । जो भी हो, यह प्रयोग चित्य अवश्य है । 'चितई' तक ही इसकी समाप्ति नहीं है । एक

स्थान पर अवधी के ढंग पर 'बिचारी' का प्रयोग भी है, जिसमें स्त्रीलिंग कर्त्ता में न आकर कर्म में है—

मुगत पथिक-भूँह माह-निसि लुवैं चलति उहिं गाम ।

बिनु तूँ बिनुनि कहैं जियति बिचारी ग्राम ॥

—विहारी-नगतरंग, २८५ ।

इसके अतिरिक्त बिहारी में लिंग-विपर्यय भी मौजूद है । एक ही शब्द कहीं पुल्लिंग रूप में प्रयुक्त हुआ है और कहीं स्त्रीलिंग रूप में । संस्कृत के कुछ पुल्लिंग शब्द हिंदी में स्त्रीलिंग प्रयुक्त होने लगे हैं—आत्मा, अग्नि, वायु आदि । संस्कृत के पक्षपातियों का कहना है कि संस्कृत के लिंग की रक्षा हिंदी में होनी ही चाहिए । पर यह संभव नहीं है । कारण यह है कि किसी भी भाषा में जब शब्द अन्यत्र से लिया जाता है तो पहले से प्रचलित परंपरा उस पर अपना प्रभाव डालने लगती है । फारसी के 'कलम' शब्द को ले लीजिए । हिंदी में पहले से 'लेखिनी' शब्द प्रचलित था इसलिए उसी अर्थ में प्रयुक्त कलम शब्द का लिंग भी उसी के अनुकूल हो गया, यद्यपि फारसी में यह पुल्लिंग है । यदि 'कलम' शब्द को संस्कृत से ही आया मानें तो भी अधिक प्रचलित लेखनी के अनुकूल उसका लिंग भी बदल गया, यद्यपि कलम शब्द संस्कृत में भी पुल्लिंग है (कलमः पुंसि लेखिन्याम—अमरकोश) । पर एक ही भाषा में एक ही शब्द के दो लिंग हों यह ठीक नहीं, और एक ही कवि जब उसको दो लिंगों में प्रयुक्त करता है तो और भी भद्दा जान पड़ता है । पर बिहारी ऐसे प्रौढ़ साहित्यज्ञ कवि ने ऐसा क्यों किया, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है । संस्कृत शब्दों के संबंध में तो यही कहा जा सकता है कि वह समय एक प्रकार

से संक्रमण-काल था । कुछ लोग संस्कृत के शब्दों या उमके विकृत रूपों को उसी लिंग में लाते थे, जो लिंग संस्कृत से मान्य था, पर जनता में वह दूसरे लिंग में प्रयुक्त होने लगा था । बिहारी ने, जहाँ तक जान पड़ता है अज्ञात रूप से, दोनों के अनुसार यथावसर दोनों लिंगों में ऐसे शब्दों का प्रयोग कर दिया है । इसके अतिरिक्त देशभेद से भी लिंगभेद हो जाता है । दही शब्द बनारस में स्त्रीलिंग है, पर पश्चिम में पुल्लिंग । गेंद शब्द को कथा सबको ज्ञात है । ब्रज में वह स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होता है । यही कारण है कि बिहारी ऐसे कवियों को भी कुछ शब्दों का लिंग दोनों रखना पड़ा । हमारे विचार से यह अज्ञात रूप में ही हुआ है । उदाहरण लीजिए—

फिर फिर विलम्बी हूँ लम्बति, फिर फिर लेनि उसासु ।

साई ! सिर-कच-सेत लौं, कील्यौ चुनति कपासु ॥

—विहारी-सुतसर, १३८ ।

इस दोहे में 'उसासु' शब्द पुल्लिंग है । संस्कृत के 'उच्छास' शब्द से ही बिगड़ कर उसास शब्द बना है । संस्कृत में 'उच्छास' पुल्लिंग है, पर हिंदी में 'उसास' शब्द का प्रयोग स्त्रीलिंग रूप में भी मिलता है । और कवियों ने भी इसे दोनों लिंगों में प्रयुक्त किया है और बिहारी ने भी—

बाढ़तु तो उर उरज भर भरि तरुनई विकास ।

बोझनु सौतिनु के हिय आवति रूंधि उसास ॥

—विहारी-सुतसर, ४४६ ।

यहाँ 'उसास' स्त्रीलिंग है, 'आवति' क्रिया से यह बात स्पष्ट है । पर 'आवति' के स्थान पर 'आवत' पाठांतर करके उसको

पुंलिंग भी कह सकेंगे । इसलिए दूसरा उदाहरण लीजिए—

पल न चलें, जकि सी रही, थकि सी रही **उसास** ।

अबहीं तनु रिनयौ; कहौ, मनु पठयौ किहिं पास ॥

— बिहारी-सतसई, ५३४ ।

फिर सुधि दै, सुधि द्याइ प्यौ, इहिं निरदई निरास ।

नई नई बहुप्यो, दई ! दई उसासि **उसास** ॥

— बिहारी-सतसई, ६६० ।

इन दोनों दोहों में 'उसास' के साथ जो क्रिया-पद आए हैं वे 'अनुप्रास' की लपेट में पड़े हैं, इसलिए इनके लिए पाठांतर की कल्पना नहीं की जा सकती । बिहारी-सतसई के नौ छंदों में 'उसाम' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिनमें से कई स्थानों पर क्रिया-पद के साथ उसका स्पष्ट अन्वय न होने से लिंग संदिग्ध माना जा सकता है । यदि 'उकार' को पुंलिंग का द्योतक मानें तो 'बिहारी-रत्नाकर' के अनुसार चार दोहों में पुंलिंग और तान में उसके स्त्रीलिंग रूप हैं । शेष में लिंग संदिग्ध है ।

इसी प्रकार संस्कृत का 'वायु' शब्द भी है । हिंदी में प्रायः 'वायु' शब्द का प्रयोग स्त्रीलिंग में ही होता है । पर संस्कृत का अनुगमन करनेवाले उसे पुंलिंग ही लिखते हैं । व्रजभाषा में 'वायु' शब्द स्त्रीलिंग रूप में आता है । पर बिहारी ने उसे दोनों लिंगों में प्रयुक्त किया है—

लपटी पुडुप पराग-पट, सनी स्वेद मकरंद ।

आवति नारि नवोद लौं, सुखद वायु गतिमंद ॥

— बिहारी-सतसई ३६२ ।

यहाँ 'वायु' स्त्रीलिंग है । पर अगले दोहे में पुंलिंग है—

चुवतु स्वेद मकरंद-कन, तरु-तरु-तर बिरमाइ ।

आवतु दच्छिन देस तें, थक्यौ बटोही बाइ ॥

—बिहारी-सतसई, ३६० ।

बाइ (वायु) स्पष्ट पुंलिंग है । इस दोहे में की 'चुवतु' क्रिया भी सकर्मक माननी पड़ेगी, यद्यपि वह अकर्मक है ।

संस्कृत को छोड़कर फारसी के शब्दों को लें तो 'रुख' शब्द का प्रयोग बिहारी में स्त्रीलिंग ही मिलता है, यद्यपि है वह फारसी में पुंलिंग और हिंदी में भी अधिकतर पुंलिंग रूप में ही प्रयुक्त होता है—

रस की सी रुख, ससिमुखी, हँसि हँसि बोलत बैन ।

गूढ़ मानु मन क्यों रहै, भग्न वृद्ध-रँग नैन ॥

—बिहारी-सतसई, २४३ ।

'रुख' शब्द का प्रयोग बिहारी ने चार दोहों में किया है और चारों स्थानों में स्त्रीलिंग है। इसका कारण यही है कि ब्रज में इसका प्रयोग स्त्रीलिंग ही होता है ।

संस्कृत और फारसी की बात अलग, भाषा का भी एकाध शब्द परिवर्तित लिंग में प्रयुक्त देखा जाता है—जैसे मिठास । यह शब्द स्त्रीलिंग है, पर बिहारी इसका प्रयोग बराबर पुंलिंग में करते हैं—

रही लट्ठ हँ, लाल, हों लखि वह बाल अनूप ।

कितौ मिठास दयौ दर्द इतें सलौनै रूप ॥

—बिहारी-सतसई, ४७३ ।

बिहारी में ये सब बातें तो मिलती हैं, पर उन्होंने पूर्वी अर्थ में किसी पश्चिमी शब्द का व्यवहार नहीं किया है—शब्दों का रूप

भले ही पूर्वी हो गया हो, प्रयाग भी पूर्वी आ गए हों । यदि कोई शब्द पूर्व और पश्चिम दोनों में अर्थभेद से प्रयुक्त होता है तो उन्होंने उसे पश्चिमी अर्थ में ही प्रयुक्त किया है । जैसे 'सुघर' शब्द को ही ले लीजिए । इसका अर्थ पश्चिम में 'चतुर' होता है और पूरब में 'सुंदर' । बिहारी ने इसका प्रयोग 'चतुर' अर्थ में ही किया है । जो लोग बिहारी में 'सुघर' का पूर्वी अर्थ ग्रहण करते हैं वे स्वयं अपने पूरब में रहने के कारण भ्रम से ऐसा करते हैं । देखिए—

सब अँग करि राखी सुघर नाइक नेह सिखाइ ।

रसजुत लेति अनंत गति पुनरी पातुरराइ ॥

—बिहारी-सतसई, २८४ ।

यहाँ 'सुघर' का 'चतुर' अर्थ हो अच्छा घटता है । 'रत्नाकर' जी ने अपनी व्रजभाषा में बहुत से ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो अर्थभेद से दोनों प्रदेशों में प्रयुक्त होते हैं, पर उन्होंने कई स्थलों पर पूर्वी ही अर्थ लिया है ।

इस बखेड़े को छोड़कर बिहारी की भाषा के गुणों पर थोड़ा विचार करना चाहिए । भाषा के संबंध में स्मरण रखना चाहिए कि वह भावों को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होती है । भावों को व्यक्त करने के लिए भाषा चाहे जो हो, पर चाहे जैसी हो यह नहीं कहा जा सकता । यदि भाषा उपयुक्त न होगी तो अच्छे अच्छे भाव पाठकों तक भली भाँति पहुँचाए कैसे जाएंगे ? भाषा यदि उपयुक्त न हुई तो नाना प्रकार की अभिव्यंजन-शैलियाँ भी काम नहीं कर सकती, भावों को व्यक्त करने के और प्रकार भी किसी काम न आवेंगे । बड़े-बड़े छंद लिखनेवालों के लिए तो कुछ सर-

लता भी होती है, पर दोहे ऐसा छोटा छंद लिखनेवाले को तो और भी भाषा की व्यंजकता बढ़ानी पड़ेगी। बिहारी ने अपनी समास-पद्धति के अनुकूल अपनी भाषा भी बहुत चुस्त रखी है। थोड़े में अधिक कहने का जैसी शक्ति इस प्रकार के मुक्तक-रचनाकार में होनी चाहिए वह बिहारी में भरपूर है। इतनी ठोस या प्रौढ़ भाषा लिखनेवाला हिंदी में दूसरा कवि नहीं हुआ। जैसी सरल भाषा बिहारी ने लिखी है वैसी भाषा लिखनेवाले तो दूर रहे, उलटे भाषा को बिगाड़नेवाले ही पैदा हो गए। शब्दों और वाक्यों की बनावट ऐसी वेढंगी कर दी गई है कि यदि कोई व्याकरणशास्त्री देखने लगे तो मुँफलाकर माथा ही पटक दे। व्याकरण की व्यवस्था भी भाषा में कोई चीज है इसपर कम कवियों ने ध्यान दिया। बिहारी के बाद मतिराम, पद्माकर, दास, द्विजदेव आदि कुछ थोड़े से ही कवि ऐसे दिखाई पड़ते हैं जो अच्छी भाषा लिख लेते थे। बिहारी की भाषा व्याकरण से कितनी बँधी है, उसमें वाक्यों की बनावट कैसी चुस्त है, उनका कोई एक ही दोहा सामने रखने से इसका पता चल जायगा—

• नेक हँसौंहीं बानिजि, लख्यो परत मुहुँ नीति ।

चौका-चमकनि-चौध मैं परति चौधि-सी डीठि ॥

—बिहारी-मतमई, १०० ।

बिहारी के दोहों में जिस सामासिक पद्धति का ग्रहण है, तदनुसार न्यूनपदत्व दोष की बहुत संभावना है, पर बिहारी की पदावली इतनी व्यंजक और उसका संगठन इतना स्थानस्थ होता है कि ऐसे दोष उसमें दिखलाई पड़ते ही नहीं। कहीं-कहीं कर्ता दूर जा पड़ा है, इसे दूगन्वय चाहे कहें, पर इससे कोई दोष वस्तुतः

आया नहीं है । जैसे इन दोहों में—

गड़े, वड़े छवि-छाक छकि छिगुनी-छोर छुटें न ।

रहे सुरँग रँग रँगि उहीं नह-दी महर्दी नैन ॥

—बिहारी-सप्तसई, ४४८ ।

फिरि-फिरि दौरन देखियत निचले नैकु रहैं न ।

ए कजरारे कौन पर करन कजाकी नैन ॥

—बिहारी-मत्तसई, ६७० ।

पहले दोहे के आदि में 'गड़े' क्रिया है और 'नैन' कर्ता एकदम अंत में पड़ा है । दूसरे दोहे में भी 'नैन' विशेष्य 'कजरारे' विशेषण से बहुत दूर पड़ गया है, बीच में कितने ही शब्द आ गए हैं । शास्त्रीय विचार से तो दूरान्वय दोष प्राप्त है, पर दोष तभी होता है जब उसके कारण किसी प्रकार का व्याघात पहुँचता हो । इन दोहों के अर्थ में वैसी कठिनाई नहीं पड़ती, अन्वय के कारण अर्थ में कोई गड़बड़ी उत्पन्न होने की संभावना नहीं है, इसलिए इन्हें दोषमुक्त कहा जा सकता है ।

हमारे यहाँ भाषा के संबंध में शास्त्रीय विचार अलग नहीं हुआ है । अलंकारों के भीतर शब्दालंकार मुख्यतया भाषा की ही संपत्ति हैं । उनका प्रयोग यदि सावधानी से किया जाय तो वे भाषा में अच्छी सजावट ला देते हैं । लक्षणा की बहुत सी बातें भाषा के भीतर ही आती हैं । मुख्यतया रूढ़ प्रयोग, जिनमें मुहावरे आ जाते हैं । गुण, वृत्ति, रीति आदि एक प्रकार से भाषा के ही विचार हैं । बिहारी में यदि भाषा का आलंकारिक गुण देखा जाय तो अनुप्रास की योजना बहुत सावधानी के साथ की गई है । कहीं कहीं तो अनुप्रास की योजना ऐसी है कि अनुरणन

या शब्द-भङ्गति का काम देती है । आजकल इस प्रकार की शब्द या वर्णयोजना की बड़ी प्रशंसा है जिसके द्वारा प्रस्तुत प्रसंग की ध्वनि भी उत्पन्न होती है । भरने के वर्णन में ऐसी शब्दावली आनी चाहिए जिसके उच्चारण से झरने के प्रपात की सी ध्वनि भी निकलती हो । किमी के गहना पहनकर चलते समय का वर्णन इस प्रकार का करना चाहिए जिससे उन आभूषणों का ध्वनि की सी आवाज छंद से स्वतः निकलती हुई जान पड़े । जैसे तुलसी-दासजी की इस चौपाई में—

कंकन-किकिन नूपुर-धुनि सुनि ।

कहत लपन सन राम हृदय गुनि ॥

—रामचरितमानस, बालकांड ।

यहाँ 'कंकन-किकिन' आदि शब्द ऐसे रखे गए हैं जिनसे उन आभूषणों की सी ध्वनि भी निकल रही है । बिहारी में भी यह गुण पाया जाता है—

रनित-भृंग-घंटावली, झरित-दान-भद-नीरु ।

मंद मंद आवत चलयौ कुंजर कुंज-समीरु ॥

—बिहारी-सतसई, ३८८ ।

इस दोहे में ऐसे शब्द आए हैं जिनसे घंटा बँधे हुए हाथी के चलने और वायु के संचरित होने की ध्वनि भी निकलती है ।

इसी प्रकार निम्नलिखित दोहे में भी 'झमकि-झमकि' शब्द गहनों की ध्वनि उत्पन्न कर रहा है—

ज्यों ज्यों आवति निकट निसि त्यों त्यों खरी उताल ।

झमकि-झमकि टहलैं करै लगी रहचँटैं बाल ॥

—बिहारी-सतसई, ५४३ ।

भाषा की व्यंजकता बढ़ाने के लिए बिहारी ने दोहरे अर्थवाले शब्दों का प्रयोग खूब किया है, कहीं वह श्लेष के रूप में है कहीं विरोध उत्पन्न करने के लिए । जैसे—

मोहूँ दाँजै मांषु, उयौ अनेक अधमनु दियौ ।

जौ बाँधैं हाँ तोषु, तौ बाँधौ अपने गुननु ॥

—बिहारी-सतसई, २६१ ।

यहाँ 'गुन' शब्द दोहरे अर्थवाला है, वह 'गुण' के अतिरिक्त 'डोर' अर्थ भी देता है जिसकी संगति 'बाँधौ' से लगती है ।

बिहारी में ठीक वैसा विरोध तो नहीं मिलता जैसा घनानन्द आदि में लाक्षणिकता को लेकर आया है, पर विरोध की प्रवृत्ति बिहारी में भी है और उन्होंने अपने कई दोहों में उसका अच्छा चमत्कार दिखाया है । देखिए—

धनि यह द्वेज; जहाँ लख्यौ, तय्यौ दगनु दुख दंदु ।

तुम भागनु पूरब उयौ, अहौ! अपुरबु चंदु ॥

—बिहारी-सतसई, ३२५ ।

रुखाई और चिकनाई का विरोध तो बिहारी में कई स्थानों पर मिलता है । है यह एक प्रकार का आलंकारिक चमत्कार ही, पर भाषा की सांकेतिक शक्ति का विभव इस प्रकार के प्रयोगों से अधिक स्पष्ट दिखाई पड़ता है, अतः इन्हें भी भाषा की पद्धति के भीतर लेना बुरा नहीं कहा जा सकता—

पूरी, यह तेरी, दर्ई, क्यों हूँ प्रकृति न जाइ ।

नेह-भरैं हिय राखियै, तउ रूखियै लखाइ ॥

—बिहारी-सतसई, ६०४ ।

वक्रोक्ति भी बिहारी की भाषा में बहुत स्वाभाविक रूप में

दिखाई पड़ती है । यह वचन-भंगी अलंकार का विषय न होकर व्यंग्य का विषय है—

कत सकुचत, निधरक फिरो, रतियौ खोरि तुम्हें न ।

कहा करौ, जौ जाइ ए लगें लगौहैं नैन ॥

—बिहारी-सतसई, २८६ ।

व्रजभाषा समास-बहुल भाषा नहीं है, इसलिए उसमें सामासिक पदावली की अधिकता अच्छी नहीं जान पड़ती । लोग स्तुति या वर्णन आदि के लिए सामासिक पदावली रखते हैं और अधिकतर संस्कृत-पदावली का सहारा लेते हैं । बिहारी ने व्रज की प्रकृति के अनुरूप छोटे-छोटे समास ही रखे हैं । भाषा में कसावट लाने के लिए और भाषा की व्यंजकता बढ़ाकर छोटे सौंचे में अधिक भाव भरने के लिए सामासिक पदावली का सहारा लेना बिहारी के लिए आवश्यक था । सामान्यतया बिहारी ने तीन-चार पदों तक ही समास रखे हैं । पर सामासिक पदावली के कारण धारा में या अर्थ को अभिव्यक्ति में कोई अड़चन उपस्थित नहीं हुई है । साधारणतः वे कैसे समास रखते हैं इसके लिए दो-एक उदाहरण लीजिए—

बिकसित-नवमल्ली-कुसुम-निकसित परिमल पाइ ।

परसि पजारति बिरहि-हिय बरसि रहे की बाइ ॥

—बिहारी-सतसई, १७५ ।

सोहति धोनी सेत मैं कनक-वरन-तन बाल ।

सारद-बारद-बीजुरी-भा रद कीजति, लाल ॥

—बिहारी-सतसई, ४७८ ।

पर कहीं-कहीं इससे भी लंबे समास हो गए हैं, फिर भी

किसी प्रकार की क्लृप्ता कहीं भी नहीं आने पाई है । जैसे—

समरस-समर-सकोच-वस-विषस न ठिक ठहराई ।

फिरि-फिरि उझकनि, फिरि दुरति, दुरि दुरि उझकति आइ ॥

—बिहारी-सतसई, ५२७ ।

चलित ललित, श्रम-स्वेदकन-कलित, अरुन सुख तैं न ।

बन-बिहार-थाकी-तरुनि खरे-थकाए नैन ॥

—बिहारी-सतसई, ४०४ ।

कुछ लोग 'तरुनि' के बाद 'खरे-थकाए' को अलग रखते हैं, पर व्याकरण को ध्यान में रखकर चलनेवाले को 'थकाए' तक सामासिक पद मानना पड़ेगा और पूरा समस्त पद नैन का विशेषण होगा ।

व्रजभाषा की इस असमास-बहुल प्रकृति पर ध्यान न देकर कुछ लोगों ने उसमें अधिक सामासिक पदावली रख दी है । 'रत्नाकर' ऐसे विद्वान् कवि तक ने व्रज में कहीं-कहीं सामासिक पदावली बहुत अधिक कर दी है, इससे उनकी भाषा बहुत जकड़ गई है । यह जकड़बंदी व्रज की प्रकृति के विरुद्ध है, इसीलिए उनकी भाषा में क्लृप्ता आ गई है । एक उदाहरण लीजिए—

तिनकैं संगहि भई प्रगट इक वाल मनोहर ।

अखिल-लोक-सुख-पुंज-मंशु-जीवन-देवी बर ॥

दोउ-सुख-संपति-परम-मूल-धन-गृद्धि-रमा सी ।

बहुरि-दरस-रस-अलह-लाहु-आनंद-प्रभा सी ॥

—गंगावतरण, ४-३८ ।

दूसरी पंक्ति का समास तो भगड़े का नहीं है, पर तीसरी और चौथी पंक्तियों में यदि 'दोउ' एवं 'बहुरि' के बाद सामासिक

चिह्न न लगा हो तो पाठक को दूसरे ही अर्थ भासित होंगे और वह व्यर्थ ही परेशान होगा ।

बिहारी की सामासिक शैली सरल भी है और सीधी भी । उनकी पदावली भाषा की प्रकृति के अनुकूल ही जुड़ती है । इसलिए यह मानना पड़ेगा कि उनकी पदावली सधी हुई है ।

बिहारी के लाक्षणिक प्रयोगों और मुहावरों पर भी विचार करना चाहिए । मुहावरे भी एक प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग ही हैं, पर रूढ़ । बिहारी में मुहावरों की बंदिश अच्छी है । हम पहले ही कह आए हैं कि इनकी कविता पर मुसलमानों लाक्षणिकता का भी प्रभाव पड़ा है । हमारे यहाँ मुहावरों का प्रचलन अपेक्षाकृत कम रहा है, पर बाहरी प्रभाव से मुहावरों का प्रयोग बढ़ा । बिहारी ने अधिकतर लाक्षणिकता ब्रज की प्रकृति के अनुरूप ही रखी है । घनानंद आदि में बाहरी रंग-ढंग कुछ विशेष लक्षित होता है, पर उन्होंने भी ब्रज की प्रकृति के विरुद्ध जाने का प्रयत्न नहीं किया । इन लोगों की मुहावरेबंदिश में बाहरी प्रभाव वहाँ स्पष्ट जान पड़ने लगता है जहाँ मुहावरों को लेकर ही कलाबाजी की जाती है । जैसे बिहारी के इस दोहे में—

मूढ़ चढ़ाएँऊ रहै पन्यौ पीठि कच-भारु ।

रहै गरँ परि, राखिबौ तऊ हियँ पर हारु ॥

—बिहारी-स्तसई, ४५१ ।

इस छंद में ‘मूढ़ चढ़ाएँ’, ‘पन्यौ पीठि’, ‘गरँ परि’ और ‘हियँ पर’ में मुहावरेबंदिश को लेकर जो दोहरे अर्थ—वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ—निकाले गए हैं, वह मुसलमानी प्रभाव के कारण । पर बिहारी में ऐसे दोहे बहुत कम मिलेंगे, मुहावरों का अधिक

खेलवाड़ इनमें नहीं मिलेगा । जहाँ मुहावरों का विदेशी विन्यास मिलता भी है, वहाँ वह अपने यहाँ की पद्धति के अनुकूल और बहुत स्वाभाविक है । जैसे—

जब जब वै सुधि काजियै तब तब सब सुधि जाँहि ।

आँखिनु आँखि लगी रहैं, आँखें लागति नाहिं ॥

— बिहारी-मतसई, ६२ ।

इसमें देखा जा सकता है कि बिहारी मुहावरों को लेकर विरोध दिखा रहे हैं, पर इस चमत्कार से उक्त अवस्था की व्यंजना अधिक आनंददायिनी है, इससे यहाँ योजना शोभाधायक है ।

चलते लाक्षणिक प्रयोगों के सहारे अलंकार की साधना भी बिहारी बड़े मजे में कर लेते थे । जैसे इस प्रसिद्ध दोहे में—

दृग उरक्षत, दृष्ट कुटुम, जुरति चतुर-चित प्रीति ।

परति गाँठि दुरजन-हियैं, दर्ई, नई यह राति ॥

— बिहारी-मतसई, २६३ ।

इसमें सभी प्रयोग लाक्षणिक हैं और चलते भी । जुटाव ऐसा चातुर्यपूर्ण है कि (संबंध-) सूत्र के संबंध के ही लाक्षणिक प्रयोग बराबर आए हैं ।

किसी की उक्ति में तो बिहारी बराबर बहुत चलते हुए मुहावरे और लाक्षणिक प्रयोग रखते हैं—

खरी पातरी कान की कौन बहाऊ बानि ।

आक-कली न रली करै, अली, अली जिय जानि ॥

— बिहारी-मतसई, १४ ।

बिहारी जिस प्रकार कसी हुई भाषा लिखते हैं उसी प्रकार उनकी वाग्धारा स्फीत भी मिलती है । उनके बहुत-से दोहों की

स्फीतता उनके भाषा के अधिकार का संकेत करती है । जिस प्रकार वे इस प्रकार के गठे हुए दोहे लिखते हैं—

जौं चाहत, चटक न घटै, मैलो होइ न, मित्त ।

रज राजसु न छुवाइ तौ नेह-चीकनौं चित्त ॥

—बिहारी-सतसई, ३६६ ।

उसी प्रकार वे इस प्रकार के दोहे भी लिखते हैं—

सवन बुँज-छाया सुखद सीतल सुरभि-समीर ।

मनु ह्ये जातु अजौं वहै उहिं जमुना के तार ॥

—बिहारी-सतसई, ६८१ ।

नाचि अचानक हीं उठे बिनु पावक बन मार ।

जानति हौं नंदित करी यह दिसि नंदकिंसोर ॥

—बिहारी-सतसई, ४६६ ।

कैसी स्फीत वाग्धारा है !

बिहारी के शब्दों और उनके स्वरूपों पर भी थोड़ा विचार करना चाहिए । इन्होंने कुछ शब्द तो पुराने भी रखे हैं जैसे— लोयन, बिय आदि । पर ऐसे प्राकृताभास शब्दों का अधिक प्रयोग बिहारी में नहीं है । उन्होंने अपनी भाषा में शब्दों को समझकर और भाषा में समयानुकूल संस्कार करते हुए ही रखा है । विदेशी शब्दों के प्रयोग के विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं । ब्रज चलते विदेशी शब्दों का ग्रहण बराबर करती आई है । अब रहा शब्दों का तोड़ना-मरोड़ना । बिहारी पर सबसे बड़ा दोष यही लगाया जाता है कि उन्होंने शब्दों को बहुत तोड़ा-मरोड़ा है । शब्दों को कवि लोग भाषा की प्रकृति के अनुसार गढ़ लिया करते हैं । जहाँ भाषा की प्रकृति को त्याग कर शब्दों का स्वरूप स्थिर

किया जाता है वहीं गड़बड़ी होती है। 'स्मर' को 'समर' लिखना भाषा की प्रकृति के विरुद्ध है। इसी प्रकार 'ज्यों ज्यों' के लिए 'जज्यों', 'त्यों-त्यों' के लिए 'तत्यों' लिखना भी ठीक नहीं। 'कैकै' के स्थान पर 'ककै' भी नहीं जँचता। पर बिहारी ने इस प्रकार की गड़बड़ी बहुत कम की है। छन्दानुरोधसे कहीं-कहीं उन्हें ऐसा करना अवश्य पड़ा है, पर तोड़-मरोड़ के स्थल वस्तुतः कम ही हैं। बिहारी की भाषा में जो लोग तोड़-मरोड़ दिखलाते हैं, वस्तुतः उन्होंने अभी यही नहीं समझ पाया है कि जिस शब्द को हम जिस शब्द का विकृत रूप बतलाते हैं वह ठीक है या नहीं। जैसे 'संक्रोनु' शब्द का मूल लोग 'संक्रांति' बतलाते हैं, पर वह निकला या बनाया गया है 'संक्रमण' से। इसी प्रकार 'सोनजाय' को वे 'सोनजुही' से जोड़ते हैं*, 'स्वर्णजाती' से नहीं। इस संबंध में अधिक न कहकर यहाँ पर हिंदी के प्रौढ़ और सर्वमान्य आलोचक आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल जी की वाक्यावली ज्यों की त्यों उद्धृत कर देना ही अधिक समीचीन होगा—

“बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य-रचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है। ब्रजभाषा के कवियों में शब्दों को तोड़-मरोड़कर विकृत करने की आदत बहुतों में पाई जाती है। 'भूषण' और 'देव' ने शब्दों का बहुत अंग-भंग किया है और कहीं-कहीं गढ़त शब्दों का व्यवहार किया है। बिहारी की भाषा इस दोष से बहुत कुछ मुक्त है।

दो-एक स्थल पर ही 'स्मर' के लिए समर, 'ककै' ऐसे कुछ विकृत रूप मिलेंगे । जो यह भी नहीं जानते कि संक्रांति को संक्रमण (अपभ्रंश 'संकोन') भी कहते हैं, 'अच्छ' साफ के अर्थ में संस्कृत शब्द है, 'रोज' रुलाई के अर्थ में आगरे के आसपास बोला जाता है और कबीर जायसी आदि द्वारा बराबर व्यवहृत हुआ है, 'मोन-जाइ' शब्द 'स्वर्णजाती' से निकला है—जुही से कोई मतलब नहीं, संस्कृत में 'वारि' और 'वार्' दोनों शब्द हैं और 'वार्द' का अर्थ भी बादल है, 'मिलान' पड़ाव या मुकाम के अर्थ में पुरानी कविता में भरा पड़ा है, चलती ब्रजभाषा में 'पिछानना' रूप ही आता है, 'खटकति' का रूप बहुवचन में भी यही रहेगा, यदि पचासों शब्द उनकी समझ में न आएँ तो बेचारे बिहारी का क्या दोष ? ❀

इनसे ही बिहारी की भाषा के संबंध में फैली भ्रमपूर्ण धारणा का निराकरण हो जाना चाहिए । बिहारी की भाषा वस्तुतः बहुत प्रांजल और प्रौढ़ है, उसमें अपनी अनभिज्ञता से शैथिल्य डूँढ़ना व्यर्थ का प्रयास है ।

इसी सिलसिले में सतसई के शब्दों एवं विभक्तियों के रूपों पर विचार कर लेना चाहिए, विशेषतः उन रूपों पर जो 'बिहारी-रत्नाकर' में रखे गए हैं । 'ए' के स्थान पर 'ऐ' और 'ओ' के स्थान पर 'औ' उच्चारण तो अधिक विचार की बात नहीं, ब्रजभाषा-प्रदेश या पुराने साहित्य में गृहीत रूपों और इनमें कोई विभेद नहीं है । इसलिए 'कीजियौ, गयौ, कह्यौ' आदि के

संबंध में तथा विभक्तियों के 'मैं, कौं, सौं, तैं' आदि रूपों के संबंध में भी कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। विचारणीय रूप दो-तीन ही हैं। सबसे पहले पूर्वकालिक क्रियाओं के रूपों पर विचार करना चाहिए। 'समुझाइ, दिखाइ, बसाइ' आदि में रूप 'स्वरांत' हैं अर्थात् इनके अंत में 'इ' है। पर ब्रज का उच्चारण या ब्रजभाषा में पूर्वकालिक क्रिया का रूप व्यंजनांत या यकारांत होता है अर्थात् समुझाय, दिखाय, बसाय आदि रूप होने चाहिए। 'इ' वाली प्रवृत्ति अवधी की है। तो क्या बिहारी ने यहाँ भी अवधी के ही रूप स्वीकृत किए हैं? अवधी का ब्रज पर इतना अधिक प्रभाव उस समय नहीं था, पीछे चाहे जो हो गया हो। इसलिए ये रूप पुरानी परंपरा के द्योतक माने जायेंगे, जो बहुत दिनों से चले आ रहे थे। प्राकृत एवं अपभ्रंश में 'इ' वाले ही रूप होते हैं। दो स्वरों का साथ उच्चारण ब्रज के अनुकूल नहीं पड़ता इसी से 'इ' को 'य' करके पढ़ने लगे। इसलिए इन रूपों की विधि तो बैठ जाती है।

अब सामान्यकारक का बहुवचन रूप लोजिए। पुरानी भाषा में बहुवचन रूप 'न' लगाने से बनते हैं। अकारांत शब्दों के बहुवचन इसी 'न' के लगाने से बनते हैं। इन्हीं के 'निकारांत' और 'नुकारांत' रूप भी मिलते हैं; जैसे दगन, दगनि, दगनु। ऐसे रूपों के संबंध में विचारना यही है कि कौन-सा रूप व्याकरण-संमत होगा। दगन और दगनि के से प्रयोग तो ब्रजभाषा में बराबर देखने में आते हैं, पर 'दगनु' ऐसे प्रयोग कम मिलते हैं। 'बिहारी-रत्नाकर' में 'दगनु' ऐसे रूप ही रखे गए हैं। टीकाकार महोदय ने भारी गणना करके यह देखा कि नुकारांत-रूपवाले प्रयोग

हस्तलिखित प्रतियों में अधिक हैं इसलिए उन्होंने इसे ही बिहारी-स्वोक्त रूप माना । उनका कहना है कि एकवचन में 'उकारांत' रूप होते हैं इसलिए बहुवचन में भी 'नकारांत' रूपों में 'उ' लगाना ठीक है । इस विषय में विचारणीय बात यह है कि 'अकारांत' पुलिंग शब्दों के ही एकवचन में और कर्त्ता एवं कर्मकारकों में 'उकारांत' रूप होते हैं । यह संस्कृत के विसर्ग का ही 'ओ' होकर घिसा रूप है, जो अपभ्रंश में खूब प्रचलित था । इसलिए उकारांत पुलिंग शब्द के एकवचन तथा कर्त्ता एवं कर्मकारकों में 'उ' का प्रयोग तो ठीक है । उसके विशेषणों और कृदंत विशेषणों में भी 'उ' ठीक है—रहतु, चलतु आदि । पर बहुवचन में इस 'उ' का उड़कर चला जाना ठीक नहीं जँचता । काव्य में बहुवचन के उकारांत रूप भी नहीं मिलते या कम मिलते हैं, इसलिए यह भ्रममात्र जान पड़ता है । अपभ्रंश के बहुवचन में अकारांत या आकारांत रूप ही बनते थे ।

वायमु उड्वावन्तिअण पिउ दिट्ठउ सदसत्ति ।

ऊडा वलया महिहि गय अद्धा फुड तडत्ति ॥ ३

—हेमचंद्र ।

३ (वियोगिना नायिका घर पर आकर बैठे हुए) कौवे को (इसलिए) उड़ा रही थी (कि यदि मेरा पति आता हो तो उड़ जा) । इतने में अचानक प्रिय दिखाई पड़ गया । (पहले वह वियोग से इतनी दुबली थी कि कौवे के उड़ाने में) आधी चूड़ियों खिसक कर पृथ्वी पर गिर पड़ी (पर एकाएक नायक को देखकर इन्हीं से वह इतनी मोटी हो गई कि) हाथ में जो आधी चूड़ियाँ रह गई थी वे भी तड़-तड़ टूट गई ।

इसमें आकारांत रूप मिलता है जो संस्कृत के 'आः' से विसर्ग लोप के कारण बना माना जायगा ।

अब प्रश्न यह होता है कि वस्तुतः बहुवचन का 'न' आया कहाँ से ? हमारे विचार से यह नपुंसक लिंग के 'नि' से आया है । इसी का घिसा रूप 'न' है । इसलिए 'नकारांत या निकारांत' रूप अधिक व्याकरण-संमत हैं । इसके अतिरिक्त नियमानुसार 'नि' रूप का प्रयोग प्रथमा और द्वितीया में ही होना चाहिए । पर इसका प्रयोग अन्य कारकों में भी होता है । इसका कारण हमारे विचार से दूसरा ही है । वस्तुतः बहुवचन का रूप तो 'न' से बन जाता था, पर विभक्ति का बोध कराने के लिए सामान्य-कारक की 'हि' विभक्ति लगती थी, जिसका घिसा रूप 'इ' होता था । यही 'न' में लगाकर अन्य कारकों में भी 'नि' रूप बन जाते थे । इसलिए रूप-साम्य होने पर भी 'नि' को अन्य कारकों में दूसरी ही विधि से प्राप्त रूप समझना चाहिए । यही कारण है कि पुराने कवि जहाँ सप्तमी आदि में 'नि' वाला रूप रखते थे वहाँ फिर विभक्ति नहीं लगाते थे । वे लिखते थे—'बननि औ बागनि घनेरे अलि घूमि रहे ।' पर आगे चलकर लोगों ने इन रूपों को भी मूल रूप समझा और इनके आगे भी कारक-चिह्न प्रकट होने लगे और लोग 'बागनि मैं' आदि रूप बेधड़क लिखने लगे पर इस प्रयोग में दोहरी विभक्ति मानना चाहिए । इस प्रकार 'नु' से अंत होनेवाले रूप ठीक नहीं जान पड़ते ।

अब कारणसूचक रूपों पर विचार कीजिए । चर्त्ते जाँँ, लखँ आदि के संबंध में तो कुछ अधिक कहने की जरूरत नहीं, क्योंकि जाँँ, चलँ आदि रूप अपभ्रंश में बराबर मिलते हैं । ब्रज

में इनका प्रयोग सानुनासिक ही होता था, पर कविता में कुछ लोग निरनुनासिक रूप भी लिखने लगे। इस प्रकार के कारण-सूचक शब्दों के अतिरिक्त जहाँ किसी कारक-चिह्न का लोप है, वहाँ भी रत्नाकरजी ने इसी प्रकार के रूप रखे हैं—

जुवति जोन्ह में मिलि गई, नैंक न होति लखाइ ।

सौंधे कैँ डोरैं लगी अली चली सँग जाइ ॥

—विहारी-सतसई, ७ ।

इसमें 'डोरैं' का अर्थ है 'डोरे में'। 'डोरैं' को तो 'हि' या 'हि' के धिसे रूप से बना मान लिया जायगा। पर 'डोरैं' के पहले 'के' कारक-चिह्न भी अपना भेष बदल कर खड़ा हो गया है। यह रूप कैसे प्राप्त हुआ, इसपर रत्नाकरजी ने विचार नहीं किया है। वस्तुतः 'कैं' लिखना बहुत समीचीन नहीं हुआ। जहाँ-जहाँ शब्द के बाद विभक्ति का लोप है, वहाँ-वहाँ संबंध के चिह्न की यही 'वेश-भूषा' है। संभव है ब्रज में उच्चारण ऐसा ही होता हो, पर व्याकरण से इस रूप के बनने का कोई प्रकार नहीं दिखाई देता। यदि ब्रज के उच्चारण की नकल हो करनी है तो फिर 'प्रेम' न लिखकर मथुरिया साहित्यिकों की तरह 'प्रेँमु' लिखना ठीक होगा। हमारे विचार से सामान्य-काव्य-भाषा के रूप में गृहीत ब्रजभाषा में ठेठ ब्रज के उच्चारण की नकल करने की आवश्यकता नहीं। कवियों की परंपरा जिस प्रकार का रूप रखती आई हो उसे ही रखना चाहिए। सतसई की हस्तलिखित प्रति में यदि ऐसा रूप मिलता हो तो भी उसे किसी ब्रजवासी के उच्चारण की नकल ही माननी पड़ेगी। 'कैं' के और उदाहरण लीजिए, इसमें संबंध का शब्द कुछ दूर जा पड़ा है—

मकराकृति गोपाल कैं सोहत कुंडल कान ।

धस्यौ मनौ हिय-घर समरु, ड्योढ़ी लसत निसान ॥

—विहारी-मनसई, १०३ ।

‘कैं’ का संबंध कान से है—‘गोपाल के कान में’ ।

इसी प्रकार शब्द-लोप होने पर भी ‘के’ ‘कैं’ हो गया है—

हा हा ! बदनु उवारि, दग सफल करें सबु कोइ ।

राज सरोजनु कैं परै, हँसी ससी की होइ ॥

—विकारा-मनसई, ५३ ।

यहाँ ‘सरोजनु कैं’ का अर्थ होगा—सरोजों के यहाँ, या सरोजों के निमित्त । और साफ उदाहरण यह है—

जेता संपति कृपन कैं, तेती स्मृति जोर ।

बढ़त जात ज्यों ज्यों उरज, त्यों त्यों होत कठोर ॥

—विहारी-मनसई, १११ ।

‘कृपन कैं’ का अर्थ है ‘कृपण के पास’ ।

इसी ‘कैं’ का जोड़ीदार एक ‘सैं’ भी है, जिसका विहारी-रत्नाकर में कई जगह प्रयोग किया गया है । यह ‘सी ही’ का विकृत रूप बताया जाता है । अन्य पुस्तकों में इसका रूप ‘सी’ ही मिलता है । ‘सैं’ रूप भी ‘कैं’ की ही तरह प्रांतिक है, उसका सामान्य-काव्य-भाषा में प्रयोग समीचीन नहीं जान पड़ता—

सटपटाति सैं ससिमुखा मुख धूषट-पटु ॥

पावक-शर-सी झमकि कैं गई झरोखा झोंकि ॥

—विहारी-मनसई, ६४६ ।

‘सटपटाति-सैं’ का अर्थ होगा ‘सटपटाती हुई सी’ । संभावना या समता दोनों का बोध कराने के लिए ‘सी’ का प्रयोग होता है । यहाँ संभावना के लिए ‘सी’ का प्रयोग हुआ है । संभा-

बना के लिए 'सी' का प्रयोग क्रिया या कृदंत रूप के साथ होता है—

ज्यों ज्यों पावक-लपट-सी लिय हिय सों लपटाति ।

त्यों त्यों छुही गुलाब सैं छतिया अति सियराति ॥

—विहारी-सतसई, ३५४ ।

इत आवति चलि जाति उत चली छसातक हाथ ।

चढ़ी हिंडोरैं सैं रहै लगी उसासनु साथ ॥

—विहारी-सतसई, ३१५ ।

'छुही गुलाब सैं' का अर्थ—'गुलाब से छुही हुई सी, सिंची हुई सी' और 'चढ़ी हिंडोरैं सैं' का अर्थ है—'हिंडोले पर चढ़ी हुई सी' है । ब्रज की प्रचलित परिपाटी के अनुसार 'गुलाब छुही सी' एवं 'हिंडोरे चढ़ी सी' लिखना पर्याप्त है । छंदानुरोध से कृदंत रूप अलग जा पड़े हैं और 'सी' संज्ञा-शब्द के साथ पड़ गई है । अन्वय से संगति मिल जाती है । इसलिए 'सी' का 'सैं' रूप अद्भुत ही कहा जायगा ।

बिहारी की भाषा पर और अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती । इतने से पता चल गया होगा कि उनकी भाषा कैसी समर्थ भाषा है और चलती भाषा को लेकर भी उन्होंने किस प्रकार उसे साहित्यिक साँचे में ढाला है । व्याकरण की दो-एक बात को छोड़कर बिहारी की भाषा व्याकरण से इतनी अधिक गठी हुई है; मुहावरों का प्रयोग, शब्दों का संचय, सांकेतिक शब्दावली, सुष्ठु पदावली (diction) ऐसी मँजी हुई है कि उनकी भाषा को प्रौढ़ एवं प्रांजल कहना ही पड़ता है । बिहारी की सी भाषा लिखने में हिंदी के बहुत कम कवि समर्थ

हुए हैं। शब्दों की तोड़-मरोड़ का जो कलंक उनपर लगाया जाता है वह किसी का पक्षपात मात्र है। वे कई प्रकार से अपनी भाषा की सजावट किया करते थे। उसमें जिस प्रकार ठोसपन है उसी प्रकार स्फीत वाग्धारा भी। इसके अतिरिक्त विषय के अनुरूप भी उनकी भाषा अपना रूप बदल दिया करती थी। यदि किसी नागरिक नायिका का वर्णन आएगा तो उसकी शब्दावली दूसरे ढंग की होगी, ग्रामीण स्त्री का वर्णन होगा तो उसकी पदावली तुरत बदल जायगी। प्रसंग के अनुरूप शब्दयोजना भी बिहारी की एक विशेषता ही है। देखिए ग्रामीण नायिका का वर्णन किन शब्दों में किया जा रहा है—

पुला-हारु हियें लसै, सन की बेंदी भाल ।

राखति खेत खरी खरी, खरे उरोजनु चाल ॥

—बिहारी-सतसई, २४८ ।

गोरी गदकारी परें हँसत कपोलनु गाड़ ।

कैसी लसति गँवारि यह सुनकिरवा की आड़ ॥

—बिहारी-भक्तमई, ७०८ ।

जैसी सीधी-सादी गँवारिनी है वैसा ही उसका वर्णन है और वैसी ही भाषा भी है। पुराने अलंकाराभ्यासी इसमें अपने स्वाभावोक्ति अलंकार की खूबी दिखा-दिखाकर प्रसन्न होंगे।

पर नागरी का वर्णन इतना सादा नहीं मिलेगा, भाषा भी कुछ नागरिकों की-सी होगी। उसमें कुछ आलंकारिक चमत्कार भी होगा—

खेलन सिखए, अलि, भलें चतुर अहेरी मार ।

कानन-चारी नैन-मृग नागर नरनु सिकार ॥

—बिहारी-सतसई, ४५ ।

कहने का तात्पर्य यह कि बिहारी का भाषा पर सच्चा अधिकार था । उनके बाद भाषा पर अपना अच्छा अधिकार दिखलाने वाले मतिराम, पद्माकर आदि कुछ ही प्रवीण कवि हुए हैं । आधुनिक समय में रत्नाकरजी ने भी वैसा ही अधिकार दिखाया है । इसलिए बिहारी को भाषा का पंडित कहना चाहिए । घनानंद आदि दो-एक कवियों की बात तो हम नहीं कह सकते, पर भाषा की दृष्टि से बिहारी की समता करनेवाला, भाषा पर वैसा ही अधिकार रखनेवाला कोई मुक्तक-रचनाकार नहीं दिखाई पड़ता । शब्दों की मनमानो व्युत्पत्ति दिखाकर चाहे बिहारी को भाषा का तोड़ने-मरोड़नेवाला भले ही कह लिया जाय, पर इस प्रकार के कथन में सचाई नहीं है, कचाई ही है । जिन्हें हिंदी भाषा का कुछ ज्ञान होगा और जिन्होंने व्रजभाषा का अध्ययन किया होगा वे आप ही इस बात को परख लेंगे ।

दोष-दर्शन

सतसई की रचना इतनी सावधानी के साथ की गई है कि उसमें साहित्यिक दोषों का ढूँढ़ निकालना साहस का काम है। बिहारी ने एक-एक शब्द को भली भाँति तौल कर रखा है। भावों का विन्यास बहुत ही संयत रूप में हुआ है, भाषा का प्रयोग बहुत व्यवस्थित है, शैली अत्यंत परिमार्जित है। फिर भी यत्र-तत्र छोटे-छोटे दोष दिखाई पड़ते हैं। दोषों का निर्देश अलग प्रकरण में करने की अधिक आवश्यकता नहीं थी क्योंकि पिछले अध्यायों में जिस विषय का जो दोष दिखाई पड़ा वह उसीके साथ कह दिया गया है। इतना होने पर भी दो-चार दोष ऐसे हैं जो उनके अंतर्गत नहीं आ सके हैं। उनका संकेत-मात्र कर देने के लिए यहाँ कुछ लिखने की आवश्यकता प्रतीत हुई है।

किसी प्रकार के चमत्कार या रस में जिन कारणों से व्याघात पहुँचता है उन्हें ही दोष कहा जाता है। किसी रस की चर्चणा में यदि किसी भेदे प्रसंग के आ जाने से कोई अड़चन उपस्थित हुई तो वह दोष के अंतर्गत है। यदि कवि किसी प्रकार का चमत्कार उत्पन्न करना चाहता है पर उसमें किसी प्रकार से व्याघात पहुँचता है तो वह भी एक प्रकार का दोष है, जो रसेतर दोष कहा जायगा। इसी प्रकार अर्थ, शब्द, वाक्य, पद, पदांश, अलंकार आदि को लेकर न जाने कितने भेद कर डाले गए हैं। बिहारी की कविता में दोष कम मिलते हैं यह पहले ही कहा जा चुका है।

इस प्रकार की चुस्त रचना में न्यूनपदत्व, दूरान्वय, गूढ़त्व आदि दोषों की अधिक संभावना रहती है, पर बिहारी ने ऐसी सशक्त और व्यंजनात्मक भाषा का प्रयोग किया है कि उसमें न्यूनपदत्व की संभावना कहीं नहीं रह जाती। कहीं-कहीं विभक्तियों का स्पष्ट उल्लेख न होने से कुछ गड़बड़ी अवश्य उत्पन्न होती है। उदाहरण के लिए यह दोहा देखिए—

झूठे जानि न संग्रहे मन मुँह निकसे बैन ।

याही तैं मानहु किये बातनु कों बिधि बैन ॥

—बिहारी-सतसई, ३४५ ।

यहाँ मन कर्ता है, पर वह ऐसे स्थान पर पड़ गया है कि कुछ लोगों ने उसे अन्य कारकों में रखकर अन्य प्रकार के अर्थ कर डाले हैं। फिर भी इसे कोई भारी दोष नहीं मान सकते, क्योंकि थोड़ा सा ध्यान देते ही विषय स्पष्ट हो जाता है।

दूरान्वय के संबंध में भाषावाले प्रकरण में कुछ लिखा जा चुका है। बिहारी में दूरान्वय कहीं कहीं है अवश्य, पर शब्दावली ऐसी गठी हुई है कि अन्वय में किसी प्रकार का व्यतिक्रम नहीं पड़ता। इसलिए वह दोषों को कोटि में आता नहीं, यद्यपि साहित्य-शास्त्रियों की परख की कड़ाई के अनुसार उसे दूरान्वय में रखना ही पड़ेगा। रहा गूढ़त्व। बिहारी में दृष्टकूटक के से दोहे एकदम नहीं आए हैं, क्रियाचतुरा के कुछ उदाहरण मिलते हैं, जो सूक्ष्म, पिहित आदि अलंकारों में आया करते हैं, पर उनमें वैसा गूढ़ता नहीं है, क्योंकि बिहारी ने बहुत चलती बातें रखी हैं, जिससे किसी प्रकार की माथापच्ची करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। हाँ, प्रसंगों को कल्पना यथास्थान ऐसी अवश्य है, जो दोहे का

अर्थ जल्दी खुलने नहीं देती, इसीसे बहुत से दोहों का अर्थ भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न रूप में किया है। इसके संबंध में 'प्रसंग-विधान' वाले अध्याय में पहले ही लिखा जा चुका है। बिहारी की कविता में व्यापक दोष, यदि माना जाय तो, यही होगा। साहित्यिक परंपरा से अपरिचित व्यक्ति कितने ही दोहों को सामने रखकर व्यर्थ ही परेशान होता रहेगा। साहित्य का अच्छा अध्ययन होने पर, नायक-नायिकाभेद की पूरी जानकारी कर लेने पर और शृंगार की परंपरा और रूढ़ियों को भली भाँति जान लेने पर ही बिहारी के बहुत से दोहों का अर्थ खुल सकता है, अन्यथा आप लाख चिह्नाते रहिए, उनका अर्थ साधारण लोग नहीं समझ सकेंगे। इसीलिए सतसई का प्रचार साधारण जनता में उतना न होकर परिष्कृत विद्या-बुद्धिवाले लोगों के बीच ही अधिक हो सका है।

जिस चुस्त रचना में न्यूनपदत्व भी नहीं आने पाया है, उसमें अधिकपदत्व, कथितपदत्व आदि दोषों की संभावना करना व्यर्थ की बात है। पर लक्षण-शास्त्रियों ने बिहारी में भी अधिक-पदत्व दोष निकाल ही लिया है—

लपटी पुहुप-पराग-पट सनी स्वेद-मकरंद।

आवति नारि नवोद लौं, सुखद बायु गतिमंद ॥

—बिहारी-सतसई, ३६२।

'पराग' पुष्परज को ही कहते हैं, इसलिए 'पुहुप' शब्द कहने की आवश्यकता नहीं। जैसे 'सुनना' कहने का तात्पर्य ही होता है

‘कान से सुनना’, ‘देखना’ का तात्पर्य ही होता है ‘आँख से देखना’ ।

परिहार में यदि कोई कहना चाहे तो कह सकता है कि ‘पराग’ का अर्थ ‘पुष्परज’ ही तो होता है, पर उसका प्रयोग अन्य धूलियों के लिए भी होने लगा है । यदि यह भी न हो तो जिस प्रकार ‘कान से सुनना’ का अर्थ ‘ध्यान से सुनना’ माना जाता है, ‘आँख से देखना’ का अर्थ ‘गौर से देखना, प्रामाणिकता के साथ देखना’ आदि होता है—जैसे ‘यह घटना आँखों देखी है’; उसी प्रकार ‘पुहुप-पराग’ में ‘पुहुप’ का अर्थ होगा ‘सुगंध से युक्त’ । बिहारी ने इस दोहे में शीतल, मंद, सुगंध तीनों प्रकार के समोरों का कथन बड़ी खूबी से कर दिया है । ‘पुहुप-पराग’ सुगंध के लिए, ‘सनी मकरंद’ शीतल के लिए और ‘गतिमंद’ मंद समीर के लिए संकेत करता है ।

इसी प्रकार एक पतत्प्रकर्ष दोष भी बिहारी के एक दोहे में दिखाई पड़ता है—

कहा कुसुमु, कह कौमुदी, कितक आरसी जोति ।

जाकी उजराई लखैं आँखि ऊजरी होति ॥

— बिहारी-पतनमंद, ५२२ ।

यहाँ कुसुम या कुमुद की उज्ज्वलता के बाद, चाँदनी की उज्ज्वलता और फिर शीशे की उज्ज्वलता का कथन है । श्वेत पुष्प और चाँदनी की उज्ज्वलता का नाम ले लेने के बाद शीशे की उज्ज्वलता का नाम लेना प्रकर्ष से पतन है । चाँदनी की उज्ज्वलता के समक्ष शीशे की उज्ज्वलता साधारण है । पर यदि कोई चाहे तो परिहार के लिए कह सकता है कि कुसुम का कथन कोमलतायुक्त उज्ज्वलता के लिए, चाँदनी का कथन शीतलता-

युक्त उज्ज्वलता के लिए और शीशे का कथन चिक्रणतायुक्त उज्ज्वलता के लिए है । यदि इस प्रकार तीन प्रकार की विशिष्ट सफेदियाँ मानी जायँ तो किसी प्रकार के क्रम की वैसी आवश्यकता न रहेगी । नायिका की गोराई में तीनों विशेषताएँ कवि मानते भी आए हैं । यदि यह बात नहीं है तो शास्त्र की दृष्टि से अवश्य दोष माना जायगा ।

इसी ढंग का क्रम का भंग भी एक स्थान पर दिखाई पड़ता है—

इहिं वसंत न, खरी धरी गरम, न सीतल बात ।

कहि क्यों झलके देखियत पुलक पसीजे गात ॥

—विहारी-सतमई, ५७४ ।

इस दोहे में कहा यह गया है कि वसंत की वायु न अत्यंत गर्म है और न शीतल ही, फिर तेरे शरीर पर रोमांच और पसीना क्यों दिखाई पड़ रहे हैं । गर्मी के कारण पसीना हुआ करता है और ठंड के कारण रोमांच । पहली पंक्ति में 'गरम' का कथन पहले है और 'सीतल' का बाद में, इसी क्रम से पसीने (पसीजे गात) का उल्लेख प्रथम और पुलक का बाद में होना चाहिए । पर ऐसा न होने से इसमें 'दुष्क्रम' दोष माना गया है । एक तो यहाँ, यदि दोष माना ही जाय तो, 'दुष्क्रम' दोष नहीं होगा, केवल 'क्रमभंग' दोष होगा जो साधारण दोष है और जिसके उदाहरण तुलसी आदि में भी मिलते हैं । दुष्क्रम दोष वहाँ होता है जहाँ कथन के क्रम में लोक या शास्त्र-प्रसिद्ध क्रम का विपर्यय या उलट-फेर हो जाय । यदि कोई किसी के यहाँ द्रव्य माँगने जायगा

तो कहेगा कि आप मुझे एक अशर्फी दीजिए अथवा एक रुपया ही दे दीजिए । पर यदि वह यह कहे कि आप मुझे एक रुपया दे दीजिए अथवा एक अशर्फी ही दे दीजिए, तो यहाँ दुष्क्रम होगा । अधिक मूल्यवाली वस्तु अशर्फी का नाम पहले आना चाहिए ।

पर दोहे में ऐसी बात नहीं है, केवल जिस क्रम से ऊपर बात कही गई है, उस क्रम से उससे संबंध रखनेवाली बातें नीचे नहीं हैं । इससे यह अक्रम या क्रमभंग दोष कहा जा सकता है । दूसरी बात यह है कि इसका परिहार भी खोज लेना कठिन नहीं है । दूसरी पंक्ति पर ध्यान देने से पता चलेगा कि जिस प्रकार रोमांच का कथन है उसी प्रकार पसीने का कथन नहीं है । बल्कि उस पंक्ति का सीधा अन्वयार्थ यह है कि 'पसीजे गात में पुलक क्यों दिखाई पड़ रही है ।' अर्थात् 'गात' सप्तमी में है और पसीजे उसका विशेषणमात्र है । इसलिए अन्वय से ही वह दोष दूर हो जाता है । यदि 'पुलक पसीनौ गात' के ऐसा कोई पाठ होता तो दोष निश्चित माना जाता ।

अलंकार के कुछ शास्त्रीय दोष विहारी में और पाए जाने हैं, जो कुछ लोगों के अनुसार विहारी ऐसे समर्थ कवि के काव्य में न होने चाहिएँ । उपमा या रूपक में उपमेय-उपमान की समता के विचार से यह नियम रखा गया है कि उपमेय का सो लिंग-वचन हो उपमान का भी वही होना चाहिए । इसलिए स्त्रीलिंग उपमेय का उपमान स्त्रीलिंग होगा, पुल्लिंग नहीं । एकवचन उपमेय का उपमान भी एकवचन ही होगा, बहुवचन नहीं । अथवा इसके विपरीत पुल्लिंग उपमेय का उपमान पुल्लिंग ही होगा, स्त्रीलिंग नहीं

आदि । पर बिहारी में इसका व्यतिक्रम कई जगह मिलता है—

रह्यौ ऐँचि, अंतु न लहै अवधि-दुसासनु बरु ।

आली ! बाढ़तु बिरहु ज्यों पंचाली कौ चारु ॥

—बिहारी-सतसई, ४०० ।

अवधि उपमेय है और 'दुःसासनु' उपमान । अवधि स्त्रीलिंग शब्द है और दुःशासन पुल्लिंग । इसलिए इनमें उपमेय-उपमान-भाव की स्थापना या रूपक बाँधना एक प्रकार का अलंकार-दोष हो गया ।

इसी प्रकार का दूसरा दोहा यह है—

विरह-व्यथा-जल-परस-विन बसियत मो-मन-ताल ।

कछु जानत जलथंभ-विधि दुर्योधन लौं लल ॥

—बिहारी सतसई, ४१४ ।

इस दोहे में भी 'व्यथा' स्त्रीलिंग उपमेय का उपमान जल पुल्लिंग रखा गया है । इसके अतिरिक्त कुछ लोग इसमें एक दूसरा दोष और निकालते हैं । उनका कहना है कि विरह या विरह-व्यथा की दाहकता ही काव्य में प्रसिद्ध है । इसलिए 'विरह-व्यथा' का रूपक जल से बाँधना साहित्यिक अपराध है । पर यह कोई बड़ी भारी गलती नहीं कही जा सकती । विरह-व्यथा की दाहकता का उद्देश्य न करके यदि कहीं कवि उसकी शीतलता की व्याख्या करने लगता कि 'वाह ! विरह की व्यथा कितनी शीतल होती है, हिम की भाँति' आदि, तब तो वह दोष का भागी माना जाता; पर रूपक के लिए ऐसा प्रतिबंध नहीं है । तुलसीदासजी ने तो क्रोध का रूपक नदी से बाँध दिया है, यद्यपि 'क्रोधाग्नि' बहुत प्रसिद्ध है—

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी ।

मानहुँ रोष-तरंगिनि बाढ़ी ॥

—रामचरितमानस, अयोध्याकांड ।

इतना ही नहीं, यह रूपक भी दूर तक गया है । इसके अतिरिक्त कवि यदि 'विरह-व्यथा' पर दृष्टि रखता है तो केवल विरह की बह्वि ही नहीं दिखाई पड़ती, आँखों के आँसू भी नजर आते हैं । इसीलिए वह मन-ताल (मानस) तक दौड़ जाता है, जहाँ से वे आँसू उठते हैं । कवि ने सचमुच आँसुओं को ही ध्यान में रखकर यह दोहा लिखा होगा । इसीलिए यह दोष नहीं, गुण है । नायिका यह व्यंजित करना चाहती है कि मैं तो आपका बराबर ध्यान करती हूँ और आपके विरह में व्यथित होकर आँसू बहाया करती हूँ और आप वहाँ मेरी चिंता ही नहीं करते । आपको व्यथा का लेश भी नहीं, आप मेरी दशा पर भी आँसू नहीं बहाते, मेरे लिये दुःख करना तो दूर की बात है ।

एक प्रसिद्ध दोहा और देखिए—

बुधि अनुमान प्रमान श्रुति किणु नोठि ठहराइ ।

मूछम कटि पर ब्रह्म की अलख, लखी नहि जाइ ॥

—विहारी-सनसई, ६४८ ।

यहाँ पर कटि को ब्रह्म की पर (शत्रु या प्रतिद्वंद्विनी) कहा गया है । आर्थी उपमा में 'सी, समान' आदि वाचक नहीं आते, 'शत्रु, प्रतिद्वंद्वी, मित्र' आदि के द्वारा अर्थ से समता का बोध होता है । तात्पर्य यह कि 'कटि' की समता ब्रह्म से यहाँ भी है । उपमेय और उपमान में लिंग का व्यत्यय तो है ही, साथ ही कमर के पतलेपन के लिए बेचारे ब्रह्म तक को घसीटना कम से कम

धर्मबुद्धिवालों को तो बहुत ही बुरा जान पड़ेगा । यह सब भी न हो, तो भी दोहे में दूर की सूझ भले ही मानी जाय पर कमर का वर्णन क्या है यह किसी तरह समझ में नहीं आता !

बिहारी की कविता के जिन दोषों का उल्लेख ऊपर किया गया है वे बहुत साधारण हैं, दूसरी बात यह है कि और कवियों ने भी बराबर ऐसा किया है । उपमा या रूपक में लिंगवचनादि का व्यत्यय बराबर मिलता है; संस्कृत के कवियों में भी और हिंदी के कवियों में भी । ऊपर उद्धृत तुलसीदासजी की चौपाई में 'रोप' पुल्लिंग है और तरंगिणी स्त्रालिंग । इसीलिए कोई कोई पुराने आचार्य इस दोष के विषय में यह एलान कर गए हैं—

न लिङ्गवचने भिन्ने न न्यूनाधिकतेऽपि वा ।

उपमादूषणायालं यत्रोद्देशो न धीमताम् ॥ ❀

—काव्यादर्श ।

बिहारी की कविता में बहुत से लोगों ने फालतू दोष भी दिखलाए हैं । इन सबका निराकरण पं० पद्मसिंह शर्मा ने अपनी 'बिहारी सतसई की भूमिका' में बड़े चुलबुले ढंग से, पर विद्वता और पांडित्य के साथ, किया है । तात्पर्य यह कि बिहारी के बहुत से दोष तो वस्तुतः दोष ही नहीं हैं । 'निरंकुशः कवयः' वाला बात ही अगर मान लें तो न जाने कितने दोषों का परिहार हो जाय । 'निरंकुश' कहने को भी आवश्यकता नहीं, यदि केवल परंपरा

* उपमा में (उपमेय एवं उपमान के) लिंग या वचन में भिन्नता या न्यूनाधिकता होना कुछ नहीं; यदि वह बुद्धिमानों के लिए उद्देश्य करनेवाला नहीं है तो वहाँ उपमादोष नहीं होगा ।

से ही मिलान कर लिया जाय तो बिहारी की कविता में निकाले जानेवाले कितने ही दोषों का परिहार हो जाता है । जब किसी बात की एक परंपरा चल पड़ती है तो उसका दोषत्व स्वतः कुछ कम हो जाता है । जैसे लिंग-वचन की भिन्नता के लिए जब कवियों की परंपरा गवाही दे रही है तो लक्षण-ग्रंथकारों के लिखने पर भी उसका दोष हलका माना जायगा, या कुछ लोगों के अनुसार नहीं भी माना जा सकता । लिंग आदि की भिन्नता में दोष वहीं होता है जहाँ चेतन प्राणी के लिंग का व्यत्यय हो । अचेतन या जड़ पदार्थों के लिंग का व्यत्यय उतना नहीं खटकता । इन सब विचारों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि बिहारी की कविता एक प्रकार से बहुत निर्दोष है ।

बिहारी का प्रभाव

बिहारी का प्रभाव हिंदी-साहित्य पर बहुत जबरदस्त पड़ा। उन्होंने बिहारी-सतसई की रचना करके कितने ही कवियों में सतसई लिखने का लोभ उत्पन्न कर दिया। उनके बाद शृंगार की कितनी ही सतसइयाँ रची गई—मतिराम-सतसई, शृंगार-सतसई, विक्रम-सतसई आदि। किसी-किसी ने 'हजारा' भी लिखा, जैसे 'रतन-हजारा'। नौसई और ग्यारहसई भी लिख गई, जिनका उल्लेख पहले हो चुका है। पर सतसई नाम में कुछ ऐसा अद्भुत आकर्षण हो गया और उसके लिए दोहा छंद कुछ ऐसा निश्चित हो गया कि अब भी लोग बराबर सतसई-ग्रंथ लिखते चले जा रहे हैं। ब्रज भाषा में ही नहीं, लोग खड़ी बोली में भी सतसई लिख रहे हैं और वही दोहा छंद चला चल रहा है। यद्यपि जो सतसइयाँ—ब्रज में या खड़ी बोली में अब लिखी जा रही हैं—वे सब शृंगार की सतसइयाँ नहीं हैं, पर अधिकांश में शृंगार का वही पुराना पचड़ा है।

बिहारी-सतसई का काव्य-जगत् में इतना प्रचार और आदर हुआ कि बिना उसे पढ़े कोई पूरा साहित्यिक ही नहीं समझा जाता था। बिहार के बाद होनेवाले प्रसिद्ध से प्रसिद्ध कवियों तक ने उसपर टीकाएँ लिखीं। उस ग्रंथ में, उस रत्न की राशि में क्या गुण हैं, उसमें कैसी चमक है, उसमें कैसी-कैसी अनोखी बातें हैं, इनको दिखाने के लिए अनेक कवियों का मन लालायित

हो उठा। इसलिए प्रत्येक दशक के बाद हमें नये रंग-ढंग से बिहारी की टीका मिलती है; पुरानी टीकाओं से संतोष ही नहीं होता था। आधुनिक समय में भी हिंदी के तीन महारथियों ने उस ग्रंथ की अपने अपने तंग की टीकाएँ लिखी हैं। कुछ लोग और कुछ न काफ़ी उनके तो दोहों पर कुंडलिया ही बाँधने लगे। भारतेंदु बाबू तक ने कुंडलियाँ बाँधी हैं, पर वे सधूरी हैं। जिस ग्रंथ का इतना अधिक पठन-पठन और अनुशालन हुआ हो उसका प्रभाव काव्य-जगत् पर पड़े बिना नहीं रह सकता। महात्मा तुलसीदासजी के 'रामचरितमानस' को छोड़कर हिंदी में ऐसा कोई दूसरा काव्य-ग्रंथ नहीं दिखाई पड़ता जिसका इतना अधिक मंथन हुआ हो। रामचरितमानस पर भक्त-संप्रदाय और व्यास-संप्रदाय का बला हुआ तो बिहारी-मतसई पर रसिक-संप्रदाय और काव्य-संप्रदाय का। जिस प्रकार मानस के अनोखे अर्थ किए गए उन्हीं प्रकार बिहारी-मतसई के भी। मानस का कविता को एक कृष्णोपासक महात्मा कृष्ण-परक ही लगाया करते थे, बिहारी की कविता के भी वैद्यक-परक अर्थ लगानेवाले सुने जाते हैं। अभी थोड़े ही दिन की बात है कि स्वर्गीय लाला भगवानदीन उसका शांतरस-परक अर्थ लगा रहे थे। बिहारी-मतसई को लेकर अपना-अपना चमत्कार दिखाने का लोगों को खूब मौका मिला और लोगों ने इसका खूब रस लूटा; उस तरह भी और इस तरह भी। वह ऐसा वाक्सीद्ध कवि था, ऐसा प्रभावकारी रचयिता था बिहारी-मतसई के रहस्य भ घर करके बैठ गया। आज भी बिहारी-मतसई का वैसा ही मान है, जैसा सैकड़ों वर्ष पूर्व था, आज भी रसिक उसका भाव-रस-लहरो में डुबकियाँ लगाते हैं। जब तक

हिंदी भाषा रहेगी, बिहारी-सतसई का मान इसी रूप में रहेगा । शृंगार का विरोध करनेवाले युग में भी उस सतसई का इतना मान बतलाता है कि उसमें कोई विशेष बात है, उसमें कोई ऐसी खूबी है जो अन्य ग्रंथों, अन्य सतसइयों में नहीं है ।

बिहारी के इस प्रभाव का परिणाम यह हुआ कि केवल उनकी होड़ में बननेवाली सतसइयों में ही नहीं, अन्य कवियों की कविता में भी उनके भाव और भाषा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा । बिहारी की-सी जबाँदानी प्राप्त करने या दिखाने का बहुतों को हौसला हुआ, उनके भावों पर कुछ कहने-सुनने की उन्हें भी लालसा हुई । इसी-लिए लोग बिहारी के भावों को कहीं तो कुछ बदल कर ही रखते रहे और कहीं बड़े बड़े छंदों में पल्लवित करते रहे, खोलते रहे । उनकी भाषा की शब्दावली का प्रयोग, उनके बँधे हुए पदों का व्यवहार, अपनी भाषा में सजीवता लाने के लिए, वे बराबर करते दिखाई देते हैं । भाषा और भाव ही नहीं, उनकी शैली भी बहुतों ने ग्रहण की । कहने का तात्पर्य यह कि बिहारी में जो जो विशेषताएँ, जो जो गुण पाए जाते हैं, उन्हें जिसने जिधर से नोचा उधर ही से नोच लिया । उसका उपयोग उन्होंने कैसा किया यह बतलाने की आवश्यकता नहीं, पर हिंदी के परवर्ती कवियों में से बहुत-से प्रसिद्ध कवि बिहारी की कविता से पर्याप्त प्रभावित हैं । बिहारी के प्रभाव को थोड़ा प्रत्यक्ष करने के लिए नीचे उदाहरण दिए जाते हैं ।

सबसे पहले सतसइयों को लीजिए । यह कहने की आवश्यकता अब नहीं रह गई है कि ये सतसइयाँ बिहारी को देखा-देखी और होड़ में बनी हैं । इन सतसइयों में बिहारी के भाव कहीं-कहीं

ज्यों के त्यों लेकर रखे गए हैं, यहाँ तक कि शब्दावली भी । तुलनात्मक समालोचना हमारा उद्देश्य नहीं, हम केवल यही दिखलाना चाहते हैं कि बिहारी की नकल कैसी हुई अथवा उनका प्रभाव कैसा पड़ा । जिसे तुलनात्मक समालोचना का मजा लेना हो उसे पं० पद्मसिंह शर्मा की 'बिहारी-सतसई की भूमिका' देखनी चाहिए । यद्यपि तुलना करने में उन्होंने कहीं कहीं ज्यादाती भी की है, पर उनकी आलोचना साहित्य की सरणि को लेकर चली है, हाँ उसकी पद्धति अवश्य लपक-झपकवाली ही है । जो भी हो पुस्तक में तुलनात्मक समीक्षा साहित्य-मर्मज्ञता के साथ की गई है, इसमें संदेह नहीं ।

सतसइयों में कालक्रम से सबसे पहला नाम 'मतिराम सतसई' का आता है । मतिराम का समय बिहारी के समय के कुछ ही पीछे पड़ता है । इसीसे कुछ लोगों का कहना है कि मतिराम की सतसई में बिहारी का अनुकरण नहीं है । पर मतिराम-सतसई को देखने पर इस कथन की पुष्टि नहीं होती । सबसे पहले तो मतिराम की भाषा ही बिहारी से मिलती हुई है, यद्यपि दोनों में पूरव पश्चिम का भेद स्पष्ट लक्षित हो जाता है । इसके जगिष्ठा उमरी कवियों में गिने ही दोहे ऐसे हैं जो इस बात की सूचना देते हैं कि मतिराम ने बिहारी-सतसई देखी है या बिहारी के दोहे सुने हैं । उस समय बिहारी के दोहों का प्रचार बड़ी तेजी के साथ हो रहा था । इसलिए यह पूर्णतया संभव है कि मतिराम ने उन दोहों में जे बहुतों को सुना हो, बिहारी की ही तर्ज पर लिखी हुई उक्त सतसई तो यहाँ तक कहती है कि उन्होंने पूरी सतसई देखी होगी । कुछ मिलते हुए दोहे देखिए—

कहत सबै बेंदी दियैं, आँकु दसगुनौ होतु ।

तिय-लिलार बेंदी दियैं, अगिनिनु बढतु उदोतु ॥

— बिहारी-सतसई, ३२७ ।

होत दसगुनौ अंकु है, दिये एक ज्यों बिंदु ।

दियैं डिठौना यों बढी, आनन-आभा-इंदु ॥

— मतिराम-सतसई, ६८ ।

लाज-लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं ।

ए मुँहजोर तुरंग ज्यों, ऐँचत हूँ चलि जाहिं ॥

— बिहारी-सतसई, ६१० ।

मानत लाज-लगाम नहिं, नैकु न गहत मरोर ।

होत लाल लखि बाल के दग-तुरंग मुँहजोर ॥

— मतिराम-सतसई, ३७३ । ❀

मतिराम-सतसई के बीसियों दोहे बिहारी के दोहों से मिलते हैं, सबका उदाहरण देना संभव नहीं है । ऊपर जो उदाहरण दिए गए हैं उन्हीं से पता चल सकता है कि बिहारी का अनुकरण मतिराम ने कितना किया है । पर मतिराम एक प्रवीण और समर्थ कवि थे इसलिए उन्होंने बिहारी के भावों को बड़े अच्छे ढंग से ग्रहण किया है । उनका भाषा पर बहुत अच्छा अधिकार था । मतिराम-सतसई के दोहे सचमुच बहुत उत्कृष्ट हैं, उनमें बिहारी के अधिकांश गुण मिलते हैं और साथ ही एक मुक्तक-रचना में जो विशेषताएँ होनी चाहिए वे भी उनमें पाई जाती हैं । भाषा की कसावट, भावों का उठान, पद्धति सब कुछ बिहारी के ढंग की ही है, इसीसे लोगों का कहना है कि मतिराम के दोहे यदि

❀ यह दोहा मतिराम के 'ललित-जलाम' में भी है । मतिराम-सतसई में उनके ललित-जलाम और रसराज के अधिकांश दोहे रखे हुए हैं ।

बिहारी-सतसई में मिला दिए जायँ तो लोग निःसंकोच उन्हें बिहारी का मान लेंगे । केवल संभावना ही नहीं, मतिराम के कई दोहे बिहारी के नाम पर चल भी पड़े हैं, जैसे निम्नलिखित दोहा, जो स्पष्टतया मतिराम का है, बिहारी-सतसई की कई टीकाओं में पाया जाता है—

झूठे हीं ब्रज में लग्यौ मोहिं कलंक गुपाल ।

सपनै हूँ कबहूँ हियँ लगे न तुम नँदलाल ॥

अब शृंगार-सतसई के कुछ दोहे देखिए । भाव भी वे ही हैं, भाषा की नकल भी है—

जदपि चवाइनु चीकनी चलति चहूँ दिसि सैन ।

तऊ न छोड़त दुहुन के हँसी रसीले नैन ॥

—बिहारी-सतसई, ३३६ ।

घरहाइन चवचैं चलैं, चातुर चाइन सैन ।

तदपि सनेह-सने लगैं, ललकि दुहूँ के नैन ॥

—शृंगार-सतसई, ४७३ ।

लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर ।

भए न केते जगत के चनुर चितेरे कूर ॥

—बिहारी-सतसई, ३४७ ।

सगरब गरब खिंचे सदा, चतुर चितेरे आय ।

पर वाकी बाँकी अदा, नेकु न खींची जाय ॥

—शृंगार-सतसई, ४७८ ।

देखने से असल और नकल का अंतर साफ मालूम पड़ता है । कुछ लोगों ने कहा है कि यह सतसई रंग-ढंग और प्रौढ़ता में बिहारी-सतसई के टक्कर की है; यदि बिहारी-सतसई में इसके दोहे रख दिए जायँ तो वे बिहारी के नाम पर बड़े मजे में चल

सकते हैं । जो भी हो, भाषा की सफाई शृंगार-सतसई में वैसी नहीं दिखाई देती जैसी बिहारी-सतसई में है । बिहारी की नकल करने के कारण बिहारी के शब्द और पद-समूह इसमें भरे पड़े हैं ।

कुछ उदाहरण विक्रम-सतसई के भी देखने चाहिए—

ललित स्याम लीला, ललन, दडी बिबुल छबि दून ।

मधु-ढाक्यौ मधुकर पय्यौ, मनौ गुलाब-प्रसून ॥

—बिहारी-सतसई, २७० ।

अलि दुति टोढ़ी-बिबु की, ऐसी लखी कहूँ न ।

मधुकर-तनु छब्यौ पय्यौ, मनौ गुलाब-प्रसून ॥

—विक्रम-सतसई ।

लाज-लगाव न मानहीं, नैना मो बस नाहिं ।

ये मुँहजोर तुरंग ज्यों, ऐंचत हैं चलि जाहिं ॥

—बिहारी-सतसई, ६१० ।

चपल चलाकिन सौ चलत, गनत न लाज-लगाव ।

रोके नहिं क्योंहूँ रहत, दग-तुरंग गति बाम ॥

—विक्रम-सतसई, २६५ ।

जिस प्रकार शृंगार-सतसईकार ने बिहारी की जोड़-तोड़ लगाई है, उसी प्रकार विक्रम-सतसईकार ने भी । इनकी भाषा में भी वह प्रौढ़ता नहीं आई है । बिहारी की पदावली लेने से ये भी बाज नहीं आए हैं ।

कुछ उदाहरण 'रतन-हजारा' से देकर अन्य कवियों की कविता पर पड़नेवाले प्रभाव पर विचार किया जायगा—

पलनु पीक, अंजनु अधर, धरे महावरु भाल ।

आजु मिले, सु भली करी, भले बने हौ लाल ॥

—बिहारी-सतसई, २२ ।

देत जताये प्रगट जो जावक लाग्यो भाल ।

नवनागरि के नेह सों भले बने हौ लाल ॥

—रतन-हजारा, ८१६ ।

पत्रा हीं तिथि पाइयै वा घर कैं चहुँ पास ।

नितप्रति पून्यौई रहै आनन-ओप-उजास ॥

—बिहारी-सतसई, ७३ ।

कुहू-निसा तिथिपत्र में वाचन कौ रहि जाइ ।

तुव मुख-ससि की चाँदनी उदै करत है आइ ॥

—रतन-हजारा, १६७ ।

‘रतन-हजारा’ के पचासों दोहे बिहारी के भाव में फेर-फार करके बने हैं । बिहारी के ही भाव नहीं, तुलसी, रहीम, केशव आदि अन्य कवियों के भाव भी इसमें उसी प्रकार गूँथे हुए हैं । ‘रसनिधि’ पर बाहरी रंग अधिक चढ़ गया था । कहीं-कहीं तो भाव और भाषा दोनों में उर्दू के जवाँदानों की भद्दी नकल दिखाई पड़ती है ।

अब सतसइयों को छोड़कर अन्य कवियों की कविता पर बिहारी का प्रभाव देखना चाहिए । यह पहले ही कहा जा चुका है कि बिहारी के बाद कितने ही कवियों ने उनका अनुगमन किया, उनकी शैली गढ़ी । सबका साथ गिनाना या सबकी कविता के उदाहरण प्रस्तुत करना अभीष्ट नहीं । इसलिए केवल तीन कवियों को ही सामने रखते हैं—रसलीन, पद्माकर और रत्नाकर । रसलीन ने केवल दोहों ही में रचना की है । उनकी रचना प्रौढ़ है, भाषा भी अच्छी है । उर्दू का वैसा प्रभाव उनकी कविता पर नहीं है जैसा रसनिधि में पाया जाता है । इनके कितने ही दोहे इसी गुण के कारण बिहारी के नाम पर चल पड़े हैं । निम्नलिखित

दोहा जो बिहारी-सतसई की कई टीकाओं में मिलता है, रसलीन के 'अंगदर्पण' का है—

अमी-हलाहल-मद-भरे; स्वेत, स्याम, रतनार ।

जियत, मरत, झुकि झुकि परत; जेहि चितवत इक बार ॥

रसलीन में चमत्कार और उक्ति-वैचित्र्य बिहारी के ही ढंग का मिलता है । वयःसंधि का एक दोहा देखिए—

तिय-सैसव जोवन मिले भेद न जान्यो जात ।

प्रात-सभे निसि-द्यौस के दुवौ भाव दरसात ॥

पद्माकर ने बिहारी की कविता से चित्रण की विशेषता ली है । इनमें भी चित्र खींचने की वैसी ही कुशलता दिखाई देती है । अनुभावों का जैसा विधान बिहारी ने किया है, वैसा पद्माकर में भी बराबर मिलता है । बिहारी के बाद चित्रण और अनुभाव-विधान की विशेषताएँ दो ही कवियों में विशेष रूप से पाई जाती हैं—एक पद्माकर में दूसरे रत्नाकर में । भाषा भी इन्हीं दोनों कवियों की अधिक व्यवस्थित और निश्चित प्रणाली पर चलती हुई देख पड़ती है । पद्माकर के दोहे भी बिहारी के से गढ़े गए हैं । केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

कछु गज-गति के आहतनि, छिन-छिन छीजत सेर ।

बिधु-बिकास बिकसत कमल, कछु दिनन के फेर ॥

—जगदिनोद, २३ ।

पद्माकर का वाक्य-विन्यास एवं पदावली बहुत साफ है । भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था ।

बिहारी की कविता से सबसे अधिक प्रभावित हुए स्वर्गीय बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' । इन्होंने बिहारी की कविता का

इतना अधिक मंथन किया कि वे इनको रग-रग में व्याप्त हो गए । भाव, भाषा और शैली तीनों ही गतों में ये बिहारी के अनुगामी हैं । बिहारी के समान कसी हुई भाषा का अनुगमन करने का परिणाम यह हुआ कि कवित्तों या अन्य बड़े छंदों में भी इन्होंने बहुत बंधी हुई भाषा का प्रयोग किया । प्रज्ञाकर की भाषा उतनी जकड़ी हुई नहीं है, पर रत्नाकर की भाषा प्रायः जकड़े हुए रूप में ही मिलती है । आधुनिक युग का प्रभाव समझिए या कवि की विशेष प्रवृत्ति इन्होंने सामासिक पदावली यों ही अधिक रखी है और कहीं-कहीं तो वह बहुत लंबी हो गई है । स्तुति या वर्णन में तो वह वैसी नहीं खटकती पर अन्यत्र वह अवश्य खटक जाती है, इसका कारण यह है कि खड़ी बोली की भाँति ब्रज को अधिक समास पसंद नहीं है ।

भाषा की दृष्टि से अवधी-प्रांत के कुछ कवियों ने 'ब्रज' में भारी उछल-कूद मचाई थी, शब्दों का रूप वे लोग बहुत बिगाड़ने लग गए थे । इन सबका परिष्कार भारतेन्दु बाबू ने किया । उन्होंने पुराने और काव्य-परंपरा से उठे हुए शब्दों को छाँट दिया, भाषा का रूप भी उन्होंने चलता ही रखा । पर रत्नाकरजी ने, बिहारी के अनुकरण के कारण समझिए या ब्रज के विशेष अध्ययन के कारण, प्राचीन रूपों को फिर से चलता किया । रत्नाकर ने भाषा में व्याकरण की पूरी व्यवस्था दिखलाई और लाक्षणिक पदों का प्रयोग बढ़ाकर भाषा को संपन्न बनाया । मुसलमानी ढंग पर मुहावरों पर कलाबाजी दिखाना भी रत्नाकरजी को पसंद था । अपनी प्रौढ़ साहित्य-मर्मज्ञता, व्यापक कवि-दृष्टि और गंभीर अध्ययन के बल पर उन्होंने ब्रजभाषा का स्वरूप-सुधार तो किया, पर पूर्वा प्रयोगों को वे भी न बचा सके । यों तो सामान्य-काव्य-

भाषा में सभी जगह के प्रयोग आ सकते हैं, पर रत्नाकरजी ने कुछ प्रयोग और शब्द ऐसे रखे हैं जो व्रज की प्रकृति के विरुद्ध पड़ते हैं। 'संदेश' को 'सनेस' और 'अंदेशा' को 'अनेस' लिखना इसी प्रकार का है।

बिहारी से ये कितने प्रभावित हुए इसके लिए यहाँ पर कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

ग्राम-बधूटीं जुरति आनि तट गागरि लै-लै ।
गावति परम पुनीत गीत धुनि लावति जै-जै ॥
धारे सहज सिंगार गात गोरे गदकारे ।
बिहँसत गोल कपोल लोल लोचन कजरारे ॥
सुनकिरवा की आड़ ताड़ तरकी तरपीली ।
ठाढ़े गाढ़े बुचनि चिहुँटनी-माल सजीली ॥
रँग चोल-रंग चीर लगे भोडर-नग चमकत ।
गृह-श्रम-संचित-स्वास्थ उमगि आनन पर दमकत ॥

—गंगावतरण, १०-१७, १८ ।

मिलाइए—

गोरी गदकारी परैं, हँसत कपोलनु गाड़ ।
कैसी लसति गँवारि यह सुनकिरवा की आड़ ॥

—बिहारी-सतसई, ७०८ ।

कोउ अन्हति सकुचाति गात पट-ओट दुराए ।
कोउ गल बाहिर कढ़ति सु उर ऊरनि कर लाए ॥

—गंगावतरण, १०-४० ।

बिहँसत सकुचति सी दिऐं, कुच-आँचर-बिच बाँह ।
भीजैं पट षट कौं चली, न्हाइ सरोवर माँह ॥

—बिहारी-सतसई, ६६३ ।

इन उदाहरणों का यह तात्पर्य नहीं कि रत्नाकरजी ने बिहारी की नकल से ही अपनी कविता को भर दिया है, उनमें अपनी स्वतंत्र उद्भावना थी, अपनी भावानुभूति थी, अपना निरीक्षण था। पर बिहारी के प्रभाव के कारण भाषा को वे कुछ पीछे खींच ले गए। लोचन, भुआल, वयन आदि प्राकृत के शब्दों का ब्रज में प्रयोग न करना भी भाषा का परिमार्जन है, पर रत्नाकरजी ने ऐसे शब्द भी रखे हैं। काव्य-भाषा से उठे हुए 'अजगुत' आदि शब्दों का व्यवहार भी भाषा को जकड़ना है।

रत्नाकरजी में भी वैसा ही सच्चा अनुभाव-विधान पाया जाता है, वैसा ही चित्रण, वैसी ही बल्कि उससे भी अच्छी लाक्षणिकता, सांकेतिक पदावली का प्रयोग आदि। बहुत से लोग आजकल अँगरेजी से उधार ली हुई लाक्षणिक पदावली का प्रयोग धड़ाधड़ साथ कर रहे हैं, ऐसे लोगों को बिहारी, घनानंद, ठाकुर तथा रत्नाकर ऐसे कवियों का अध्ययन करके हिंदी की लाक्षणिक पदावली का प्रयोग सीखना चाहिए। घनानंद और रत्नाकर में तो ऐसे प्रयोग बहुत हैं। रत्नाकर की लाक्षणिकता में उर्दू का अधिक रंग नहीं चढ़ने पाया है।

बिहारी का ऐसा प्रभाव उनकी कविता की उन विशेषताओं की महत्ता प्रतिपादित करता है जो लोगों के हृदय को वेधनेवाली होती हैं। इसी हृदय-वेधकता को लक्ष्य करके उनके दोहों को 'नावक का तीर' कहा गया है।



सतसई-संबंधी-साहित्य

हम कई बार कह चुके हैं कि हिंदी में बिहारी-सतसई के संबंध में इतना अधिक विचार और मंथन हुआ कि बिहारी-सतसई-संबंधी एक अलग साहित्य ही खड़ा हो गया है। इसमें सतसई की बहुत-सी टीकाएँ हैं, उसके अन्य भाषाओं में पद्यात्मक भाषान्तर हैं, दोहों के कुंडलिया, कवित्त एवं सवैया में पल्लवित रूप हैं, तुलनात्मक आलोचनाएँ हैं और फुटकर लेख हैं। टीकाएँ पुरानी ब्रजभाषा के गद्य में भी हैं और आधुनिक खड़ी बोली में भी। एक टीका संस्कृत गद्य में भी है। कुछ टीकाएँ ऐसी हैं जिनमें चमत्कार के लिए कहीं वैद्यक-परक अर्थ लगाया गया है और कहीं शांतरस-परक अर्थ। टीकाओं में दोहों के विभिन्न क्रम भी हैं।

सतसई के निर्माण के बाद से ही उसकी टीकाएँ होने लगी थीं और तीन सौ वर्षों से उसपर बराबर टीकाएँ लिखी जा रही हैं। कितनी ही टीकाएँ मिलती हैं, कितनी ही अप्राप्य हैं। सतसई की टीका लिखना भी एक फैशन हो गया था और प्रत्येक युग में अच्छे से अच्छा साहित्यिक उसकी टीका लिखता हुआ देखा जाता है। एक इसी बात से बिहारी की महत्ता का पता चल जाता है।

सुभीते के विचार से पहले हम सतसई की टीकाओं की चर्चा करते हैं। सतसई की सब टीकाएँ गद्य ही में नहीं हुई हैं, कुछ पुरुषार्थियों ने पद्य में भी टीकाएँ की हैं—दोहे की टीका दोहे में।

सतसई की सबसे पहली गद्य-टीका कृष्णलाल की है। इस टीका के अंत में यह दोहा है—

संवत्, ग्रह, सप्ति, जलधि, छिति, छठ तिथि वासर चंद ।

चैत मास पख कृष्ण मै, पूरन आनंद-कंद ॥

यह दोहा लालचंद्रिका आदि चार-पाँच टीकाओं में बिहारी-सतसई की समाप्ति का काल-निर्देश करनेवाला माना गया है। पर इसकी शिथिल रचना ही बिहारी की-सी नहीं जान पड़ती। सतसई की प्रामाणिक और अधिकांश टीकाओं में यह नहीं मिलता, इससे रत्नाकरजी का अनुमान है कि यह टीका की समाप्ति के समय का निर्देश करता है। बिहारी के एक पुत्र कृष्ण कवि का नाम भी जनश्रुति में प्रसिद्ध है। लोगों का कहना है कि जिन कृष्ण कवि ने कवित्त-सवैयों में सतसई की टीका लिखी है वे ही बिहारी के पुत्र थे। पर उनका समय १७८० के लगभग है और बिहारी के समय से दूर जा पड़ता है, इसलिए रत्नाकरजी इन्हें ही बिहारी का पुत्र कहते हैं। जीवनीवाले प्रकरण में पीछे इसपर कुछ विचार किया गया है। इस दोहे के अनुसार उक्त टीका १७१९ में बनी थी। यह टीका जयपुरी मिश्रित ब्रजभाषा में लिखी गई है। इसके अंत में यह दोहा है—

प्रथम देवबानी हुती पुनि नरवानी कीन ।

‘लाल’ बिहारी-कृत कथा पढ़ै सो होय प्रवीन ॥

इसमें ‘लाल’ टीकाकार का नाम है, बिहारीलाल कवि का नाम नहीं, क्योंकि उनका नाम इसमें बराबर बिहारीदास लिखा गया है। दोहे के दो सुसंगत अर्थ लग सकते हैं। एक तो यह कि सुक्तक-रचना पहले संस्कृत में होती थी, फिर नरवाणी (प्राकृत,

अपभ्रंश, व्रज आदि) में हुई । दूसरे बिहारी-सतसई की टीका पहले संस्कृत में थी अब मैं नरवाणी (व्रज) में इसे लिख रहा हूँ । यद्यपि सतसई की एक संस्कृत गद्य टीका मिलती है, पर उक्त समय से पहले उसका पता नहीं चलता, इसलिए दूसरे अर्थ पर तबियत नहीं जमती । इस दोहे का यह अर्थ लेना कि बिहारी-सतसई पहले संस्कृत में थी, पीछे से व्रज में लिखी गई, और भी बेकिते की बात हो जाती है । इसलिए पूर्वोक्त अर्थ ही अच्छा जमता है ।

टीका में वक्ता-बोधव्य का उल्लेख है और साधारण अर्थ दिया गया है । नायिकाभेद का भी उल्लेख है । इस टीका की प्रति सं० १८२० की लिखी मिलती है ।

दूसरी टीका विजयगल्ल के मान कवि या मानसिंह की मिलती है । इसका निर्माण-काल सं० १७३७ के लगभग अनुमान किया जाता है । उदयपुर-नरेश महाराणा राजसिंह के दरबारी कवि मान, जिन्होंने 'राज-विलास' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ लिखा है, इसके टीकाकार हैं । इस टीका में सामान्य अर्थ दिया गया है । नायिका-भेद का भी सामान्य उल्लेख है । इसकी एक प्रतिलिपि सं० १७७२ की मिलती है, जिसके लिखनेवाले कोई प्रताप-विजय हैं ।

तीसरी मुख्य टीका 'अनवर-चंद्रिका' है । इसकी रचना सं० १७७१ में शुभकरण और कमलनयन नामक दो कवियों ने मिल कर की है । यह टीका किन्हीं अनवर खों के लिए लिखी गई है, इसीसे इसका नाम 'अनवर-चंद्रिका' रखा गया है । ये खों साहब दिल्ली के कोई सामंत जान पड़ते हैं, जो मुलतान के रहनेवाले कहे जाते हैं । अनवर-चंद्रिका में सोलह प्रकाश हैं, जिनमें से प्रथम में

तो केवल आश्रयदाता का वंश-वर्णन है। शेष पंद्रह प्रकाशों में दोहे एक साहित्यिक क्रम से छाँटकर रखे गए हैं। टीका में अर्थ न देकर काव्यांग की बातों पर ही विचार किया गया है—वक्ता-बोधव्य, अलंकार, ध्वनि आदि। इसमें ध्वनि की जो चर्चा उठाई गई है वह साहित्यिक दृष्टि से बड़े महत्त्व की है। इस टीका में अर्थ की जो कमी थी उसे पन्ना के कर्ण कवि ने पूर्ण करके 'साहित्य-चंद्रिका' नाम की एक अलग टीका सं० १७९४ में लिखी। ध्वनि का विवाद इसमें अनवर-चंद्रिका की ही पद्धति पर, किंतु स्वतंत्र रूप में रखा हुआ है। प्रकरणों का क्रम भी अनवर-चंद्रिका से मिलता है।

सं० १७९४ में ही केशव के ग्रंथों के प्रसिद्ध टीकाकर कवि सूरति मिश्र ने भी अमर-चंद्रिका नाम की एक सतसई की टीका लिखी। यह टीका जोधपुर के तत्कालीन महाराज अभयसिंह के मंत्री भंडारी नाइला अमरचंद के अनुरोध से लिखी गई थी इसी से इसका नाम 'अमर-चंद्रिका' रखा गया। इसमें अलंकारों का निरूपण पंडिताई के साथ किया गया है। अलंकारों में अनवर-चंद्रिका से इसका मत प्रायः भिन्न है। इन्होंने सारी टीका दोहों में ही की है। टीका का नमूना देखिए—

पाय्यौ सौरु सुहाग कौ इनु बिनु ही पिय-नेह ।

उनदौहीं अँखियाँ ककै के अलसौहीं देह ॥

—विहारी-सतसई, ६१५ ।

टीका

प्रश्न—बिनु प्रिय-नेह सुहाग कौ सौरु न केहूँ होइ ।

उत्तर—निज सखि-बच दीठि न लगै हित पै कहत सु जोइ ॥

पर्यायोक्ति, लच्छन—

छल करि साधिय इष्ट जहँ पर्यायोक्ति सु नाम ।

कोउ न टोकै दुष्ट यह छलबच कहि किय काम ॥

काशिराज महाराज वरिवंडसिंह के सभाकवि श्री रघुनाथ वंदीजन ने भी एक टीका लिखी थी (१८०२), जो मिलती नहीं । इसके बाद सं० १८०९ में ईसवी खों ने 'रस-चंद्रिका' नामक टीका लिखी । इसमें विशेष बात यह है कि दोहे 'अकरादि क्रम' से रखे गए हैं । अलंकारों का निर्णय भी औरों से भिन्न है । क्योंकि अलंकार का बहुत कुछ विचार दोहे के अर्थ पर भी निर्भर रहता है । अर्थ इन्होंने औरों से भिन्न किया है । टीकाकार अच्छे साहित्य-मर्मज्ञ जान पड़ते हैं । अर्थ खोलने का ढंग और भाषा दोनों ही सीधे और साफ हैं । इसमें नायिका, वक्ता-बोधव्य, अर्थ और अलंकार दिए गए हैं । इन्होंने केशव की रसिक-प्रिया पर भी टीका लिखी है ।

सं० १८३४ में हरिचरणदास ने हरिप्रकाश नामक प्रसिद्ध टीका लिखी । ये हरि कवि के नाम से कविता भी किया करते थे । ये केशव के भी टीकाकार हैं । इनके नाम में 'सूरि' शब्द मिलता है इससे ये जैनमतावलंबी जान पड़ते हैं । इन्होंने ही 'सभा-प्रकाश' नामक प्रसिद्ध रीतिग्रंथ लिखा है । यह टीका भी सरल भाषा में लिखी गई है । शब्दार्थ और भावार्थ बड़े अच्छे ढंग से समझाया गया है । अलंकार-निर्देश भी है । पर कहीं-कहीं शब्दों के टुकड़े-टुकड़े कर डाले गए हैं और खींचतान से अर्थ किया गया है । यह पुस्तक भारत-जीवन प्रेस, काशी से छपी भी थी ।

मनीराम नाम के एक टीकाकार ने 'प्रताप-चंद्रिका' नामक तिलक किया, जो संभवतः जयपुर के महाराज प्रतापसिंह के आश्रित थे। ये प्रतापसिंह वे ही हैं जो पद्याकर कवि के आश्रय-दाता और जगतसिंहजी के पिता थे। रत्नाकरजी का कहना है कि मनीराम हम्मीरहठ के निर्माता प्रसिद्ध कवि चंद्रशेखर वाजपेयी के पिता थे। इन्होंने टीका तो कुछ की नहीं, केवल अनवर-चंद्रिका और अमर-चंद्रिका के अलंकारों की छानबीन करते रहे और नए अलंकारों तथा काव्यांगों की विधि मिलाते रहे। इन्होंने स्वयं लिखा है—

अनवर खाँ अरु अवर तें भूपन अधिक सु जोइ ।

श्री प्रताप की चंद्रिका लिखें लिखे कबि सोइ ॥

संवत् १८६१ में ठाकुर कवि ने बाबू देवकीनंदनसिंह के प्रीत्यर्थ सतसैया-वर्णार्थ टीका लिखी जिसका नाम 'देवकीनंदन-टीका' भी पड़ गया है। ये ठाकुर कवि असनी के रहनेवाले थे, पर ये प्राचीन और बुंदेलखंडी ठाकुर से भिन्न हैं। टीका का नाम बतलाता है कि इन्होंने वर्ण-वर्ण का अर्थ किया है, अर्थात् बड़े विस्तार से अर्थ किया गया है। दोहों का गूढार्थ खेलने में टीकाकार ने काफी परिश्रम किया है। इसके लिए प्रश्नोत्तर भी दिए गए हैं। टीका में प्रसंग-निर्देश, वक्ता-बोधव्य तथा अर्थ दिया गया है। अलंकार पर इनका अधिक जोर नहीं है।

अन्य प्रांत के रसिकों ने भी इसपर टीकाएँ की हैं। गुजरात प्रांत के श्रीरणछोड़जी दीवान ने संवत् १८६०-७० के लगभग एक टीका लिखी। इसमें शब्दार्थ, भावार्थ के साथ अलंकारों का भी निर्णय है और काव्य का तारतम्य भी दिखाया गया है।

पुस्तक से टीकाकार की प्रवीणता और साहित्य में अच्छा प्रवेश सूचित होता है। पर दूर प्रांत के लोग प्रायः शब्दावली न समझ कर मनमाना पाठांतर कर लिया करते थे। यही बात दीवानजी में भी मिलती है। “मैं मिसहैं सोयो समुक्ति” (५९२) का रूप यह हो गया है—

मैं मिस-हाँसी यों समुक्ति भुँह चूम्यौ ढिग आइ।

हस्यौ खिसानी गल रख्यौ रहो गरे लपटाइ ॥

इसके बाद लल्लूलालजी की लिखी प्रसिद्ध टीका ‘लाल-चंद्रिका’ का नाम आता है। यह टीका उत्तम तो नहीं है, पर प्रियर्सन साहब ने इसको परिश्रमपूर्वक संपादित करके, इसमें अंगरेजी की एक भूमिका देकर और साथ ही ‘भाषा-भूषण’ का भी अनुवाद जोड़कर जब से प्रकाशित कर दिया इसकी और धूम मच गई। लल्लूलालजी में कुछ वैसी विद्या-बुद्धि नहीं थी। संस्कृत ये कम या एकदम नहीं जानते थे। कुछ पुस्तकें जैसे ‘सिंहासन-वत्तीसी’ आदि जो इन्होंने लिखी हैं, वे भी ‘भाषा’-ग्रंथों से ही अनुवाद करके। लालचंद्रिका में दोहे की टीका तक हरि प्रकाश और कृष्णलाल से उड़ाई हुई है। अलंकार और शंका-समाधान अमर-चंद्रिका से उठाकर रखा हुआ है। जहाँ इन्होंने अपनी बात जोड़ने का प्रयत्न किया है वहीं धोखा खाया है। टीका की भाषा में खड़ी और ब्रज का मिश्रण है। शैली वही—वक्ता-बोधव्य, नायिका, दोहे का अर्थ, शंका-समाधान, अलंकार तथा उसका लक्षण। इसका पहला संस्करण तो लल्लूजी ने अपने ही संस्कृत प्रेस, “कलकत्ता में छपवाया था (सन् १८९९ ई०), दूसरा संस्करण काशी के लाइट प्रेस से निकला। तीसरा

ठाट का संस्करण प्रियर्सन साहबवाला है, जो गवर्नमेंट प्रेस, कलकत्ता में १८९६ में छपा था । इसका एक संस्करण नवलकिशोर प्रेस ने भी छापा है, जो बहुत भ्रष्ट छपा है ।

काशी के प्रसिद्ध कवि सरदार ने भी एक टीका लिखी थी और पद्माकर के पौत्र गदाधर ने भी । पर वे टीकाएँ मिलती नहीं । “लालचंद्रिका” की हो भौंति प्रख्यात होनेवाली एक टीका प्रभुदयाल पौंडे की है जो सं० १९५३ में कलकत्ता के बंगबासी आफिस से निकली थी । यह टीका आधुनिक खड़ीबोली में है । इसमें दोहे का अन्वय, सरलार्थ और शब्दों की व्युत्पत्ति दी गई है । इसमें एक १४ पृष्ठ की भूमिका भी है जिसमें बिहारी को माथुर ब्राह्मण और कृष्ण कवि को उनका पुत्र अथवा पुत्र-निर्विशेष शिष्य माना गया है । इसके बाद पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र की भावार्थ-प्रकाशिका टीका का नंबर है । यह सं० १९५४ में समाप्त हुई थी । टीका में सामान्य अर्थ और अलंकार दिए गए हैं । इसके आरंभ में साहित्य-परिचय नाम से एक निबंध जोड़ा गया है जिसमें काव्य, रस-चक्र और अलंकार का थोड़े में वर्णन है । बीच-बीच में दोहे भी रखे गए हैं । रत्नाकरजी का कहना है कि एक पुराना साहित्य-परिचय ग्रंथ था, संभवतः ये दोहे उसी में से लेकर मिश्रजी ने रख दिए हैं । व्याख्या इन्होंने अपनी रखी है । टीका में पंडिताई खर्च करते हुए विचित्र पाठ एवं अर्थ किए गए हैं । मिश्रजी सभी क्षेत्रों में अपनी कला दिखानेवाले पंडितों में से थे, आपकी रामचरितमानस की टीका किसी टीका के अभाव में खूब चली । सतसई की टीका की प्रसिद्धि के कारण तो स्वर्गीय पं० पद्मसिंहजी थे । उन्होंने सं० १९६७ की सरस्वती में ‘सत-

सई-संहार' नाम से इसकी बड़ी कड़ी और विनोद से भरी हुई आलोचना लिखी थी ।

इसके अनंतर आधुनिक काल की तीन प्रसिद्ध टीकाओं का नाम आता है, जो इस युग के तीन प्रसिद्ध साहित्य-मर्मज्ञों द्वारा निर्मित हुई हैं । सबसे पहले स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्माजी ने 'संजीवन-भाष्य' के लिखे जाने की सूचना दी । जिसके पहले भाग में बिहारी की आलोचना और अन्य कवियों के साथ उनकी तुलना की गई है । दूसरे भाग का केवल प्रथम खंड प्रकाशित हुआ है जिसमें १२६ दोहों की टीका २८४ पृष्ठों में की गई है । पहला भाग तो सं० १९८५ में ही निकला था, पर दूसरा भाग बाद में प्रकाशित हुआ । शर्माजी के स्वर्गवास से यह भाग अपूर्ण ही रह गया । टीका में पहले प्रत्येक दोहे का संक्षेप में वक्ता-बोधव्यवतलाया गया है, फिर अर्थ है । इसके पश्चात् उसकी व्याख्या की गई है और दोहे की खूबियाँ दिखाई गई हैं । अन्य कवियों की वैसी ही या उससे मिलती-जुलती कविता भी उद्धृत की गई है और दोहे के साथ सबकी तुलना की गई है । पुराने टीकाकारों के मत भी दोहे के विषय में उद्धृत किए गए हैं । अंत में अलंकार दिए गए हैं और खंडन-मंडन भी है । शर्माजी ने जो कुछ लिखा है बड़ी सजीव भाषा में लिखा है और उन्होंने साहित्य की सरणि का भरपूर ध्यान रखा है ।

दूसरी टीका स्वर्गीय लाला भगवानदीनजी की 'बिहारी-बोधिनी' है । इस टीका में शब्दार्थ, प्रसंग और भावार्थ लिखे गए हैं । अंत में अलंकार-निर्णय है । विशेष बातें भी दोहे के साथ-साथ यथास्थान दी गई हैं । लालाजी ने यह टीका विशेषतः

विद्यार्थियों के उपयोग के लिए लिखी थी, इसलिए बहुत सरल भाषा में और बड़ी स्पष्टता के साथ अर्थ लिखा गया है। इन्होंने कहीं-कहीं नये अर्थ भी लिखे हैं और अंत में एक शब्दकोश भी दिया है। भूमिका में इन्होंने दिखलाया है कि वुँदेलखंडो शब्दों और अव्ययों का ठीक ज्ञान न होने से लोगों ने अर्थ में गड़बड़ियाँ की हैं। विद्यार्थियों में इस टीका का बहुत अधिक प्रचार है। यह वस्तुतः बहुत सुबोध पुस्तक है।

तीसरी टीका 'बिहारी-रत्नाकर' है जो स्वर्गीय बा० जगन्नाथ-दास 'रत्नाकर' ने सं० १९८३ में प्रकाशित की है। इस पुस्तक के संपादन में जितना परिश्रम हुआ है और जितनी छान-बीन से यह टीका लिखी गई उतनी सतर्कता से हिंदी में दूसरी कोई पुस्तक नहीं निकली। दोहों का क्रम, उनका पाठ आदि निर्णय करने में टीकाकार ने बड़ा श्रम किया है। कोई २२ वर्ष तक 'रत्नाकरजी' बिहारी-सतसई के पीछे पड़े रहे और उन्होंने उसकी कितनी ही हस्तलिखित प्रतियाँ एवं साथ ही टीकाओं का संग्रह किया। टीका में पहले शब्दार्थ दिया गया है, फिर अवतरण और इसके बाद भावार्थ दिया गया है। भावार्थ में विशेषता यह है कि दोहों में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ से ही उसकी पूर्ति की गई है। जो शब्द टीकाकार ने बढ़ाए हैं उन्हें कोष्ठ में रखा है। इसके बाद अंत में अकारादि क्रम से सूची दी गई है जिसमें सात प्रसिद्ध टीकाओं के पद्य-क्रम का संग्रह है। जो दोहे बिहारी के नहीं सिद्ध हो सके वे अंत में एक उपस्करण में संगृहीत कर दिए गए हैं। दोहों का अर्थ करने और अवतरणों को निकालने में रत्नाकरजी ने संस्कृत और हिंदी की पुरानी परंपरा पर

पूरा ध्यान दिया है, साहित्य की लीक से वे कहीं बहके नहीं हैं । यह अन्य टीकाकारों से उनकी और विशेषता है । सतसई के एक-एक शब्द का उन्होंने ध्यान रखा है । शब्दों के व्याकरण-सम्मत स्वरूपों और कारकों के रूपों पर बहुत ध्यान दिया गया है । इसलिए यह हिंदी में बिहारी-सतसई की सबसे प्रामाणिक प्रति है । इसमें बिहारी का सबसे पहले असली चित्र भी दिया गया है, जो जयपुर में मिला था ।

केवल हिंदी ही में नहीं अन्य भाषाओं में भी इसकी टीकाएँ लिखी गईं । यहाँ तक कि संस्कृत और फारसी तक में । संस्कृत की दो टीकाओं का पता चलता है; एक का उल्लेख तो श्री अंबिकादत्त व्यास ने अपने 'बिहारी-बिहार' में किया है, पर उसके लेखक का पता नहीं चलता । उस टीका में वक्ता-बोधव्य, नायिका-निरूपण और अलंकार-निर्णय आदि ही हैं, टीका तो कुछ है ही नहीं । हाँ, उसकी भाषा बहुत सरल और चलती है, इसलिए साधारण संस्कृत जाननेवाला भी उसे समझ सकता है । दूसरी टीका का उल्लेख श्रीयुत रत्नाकरजी ने किया है । इसके लिखनेवाले का भी नाम अज्ञात है । इसमें प्रत्येक दोहे का संक्षिप्त अवतरण देकर उसके वक्ता-बोधव्य, नायिका-भेद आदि का कथन किया गया है । इसके बाद संस्कृत की टीकाओं की शैली पर दोहे के अन्वय-प्राप्त शब्दों को रखते हुए संस्कृत में अर्थ दिया गया है । यह टीका देवकीनंदन टीका का उत्था जान पड़ती है, क्योंकि एक तो इन दोनों में पूरा साम्य है, दूसरे जहाँ टीकाकार ने थोड़े में ही काम चलाया है वहाँ यह भी लिख दिया है—“अन्योप्यर्थः श्रीदेवीनन्दन-टीकातोऽवगन्तव्यः ।” इस टीका में टीकाकार महोदय ने संस्कृत

के टीकाकारों को भौंति कहीं कहीं शब्दों की अच्छी चीर-फाड़ की है। 'उनदौहीं' का खंड 'उन दोहीं' किया गया है और लिखा गया है—“ 'उन' तथा 'इन' अनया च 'दो हीं' उमाभ्यामपि । ”

गुजराती टीका का नाम है 'भावार्थ-प्रकाशिका' और इसके रचयिता हैं श्रीसवितानारायण कवि। इसका निर्माण-काल सं० १९६९ है। टीकाकार ने 'प्रकाशिका' के लिखने में पूरा परिश्रम किया है। इसमें सरल गुजराती भाषा में प्रत्येक दोहे के वक्ता बोधव्य, अर्थ और अलंकार दिए गए हैं। एक अच्छी-सी भूमिका भी इसके साथ लगी हुई है, जिसमें का अधिकांश 'बिहारी-बिहार' से लेकर रखा गया है। पर विचार उन्होंने स्वतंत्र किया है।

श्री जोशी आनंदीलाल शर्मा ने हिजरी सन् १३१४ में (सन् १८९५ या सं० १९५२ के लगभग) फारसी में इसकी एक टीका की। आप अलवर की राजसभा के सभासद थे। टीका का नाम है 'सफरंगे सतसई'। इसमें दोहे को निज-मति-अनुसार टीका मात्र की गई है। अनुवाद समझ के साथ किया गया है, पर भावों के स्पष्ट करने में वह समर्थ नहीं है। 'मेरी भव-बाधा' का अर्थ आप यों फरमाते हैं—

“तमामे तस्दीकते दुनियावी मरादूर कुनेद । ऐ राधा होशमंद
ऑकि अज़ उफतादने अक्से तन ऊ कि मिसले जाफ़रानस्त, रंग सियाहे
कान्ह सरसब्ज़ मीशवद याने अज़ मुलाकते अ का ह खुशवक्त मीशवद ।”

यहाँ तक गद्य में लिखी टीकाओं का विवरण दिया गया। अब पद्य में लिखी टीकाओं का हाल सुनिए। पद्य में लिखी टीकाएँ वस्तुतः टीकाएँ नहीं हैं। उनमें या तो बिहारी के भाव पल्लवित किए गए हैं, जैसे कवित्त, सवैया, कुंडलिया आदि बड़े छंदों

में, अथवा यदि अन्य भाषा में उन्हें दिखाना हुआ है तो मूल के भावों की रक्षा करते हुए केवल अनुवाद कर दिया गया है—जैसे संस्कृत और उर्दू में। पद्य में सच पूछिए तो एक ही टीका थी जो सूरति मिश्र ने दोहों में लिखी थी। उसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। सुभीते के विचार से हम छंदों के क्रम से ही इनका उल्लेख करते हैं। पहले कुंडलियोंवाले तिलकों को लीजिए, क्योंकि दोहों को कुंडलियों में ढालनेवाले बहुत-से कवि हुए हैं। कुंडलियों का तिलक सबसे प्रथम पठान सुलतान का मिलता है, पर यह पूरा नहीं मिलता। यह सं० १७६१ के आस-पास बना था। इस ग्रंथ के संबंध में लोगों का अनुमान है कि यह पूरा बना ही नहीं था, पर 'शिवसिंह-सरोज' से पठान सुलतान के संबंध में चंद्र कवि के एक सोरठे से इसके पूरे बनने की बात का पता लगता है—

देस मालवा माँहि, कुंडलियाँ करि सतसई।

हरि-गुन अधिक सराहि, चंद्र कबी सुरतिहि सभा ॥

इसकी केवल पाँच कुंडलियाँ मिलती हैं, और ४-५ लोगों के मुँह से भी सुनी जाती हैं। पठान सुलतान की कुंडलियों की परंपरा से बड़ी प्रशंसा सुनी जाती है, ये वस्तुतः बड़ी मधुर, और रोचक हैं। नमूने के लिए एक यहाँ दी जाती है—

मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोइ।

जा तन की झाँई परैं स्यामु हरित-दुति होइ ॥

स्यामु हरित-दुति होइ, कटै सब कलुष-कलेसा।

मिटै चित्त कौ भरमु रहै नहि कछुक अँदसा ॥

कह पठान 'सुलतान कटै जम-दुख की बेरी।

राधा बाधा हरौ सदा बिनती सुनि मेरी ॥

कुंडलिया बाँधनेवाले दूसरे शख्स हैं नव्वाब जुल्फिकार अली । कुछ लोग इन्हें पुराना व्यक्ति मानते हैं, पर ग्रंथ के अंत में एक दोहा दिया गया है जिसमें 'गुन नभ ग्रह अरु इंदु' लिख कर संवत् व्यक्त किया गया है । इससे इसका निर्माण-काल सं० १९०३ ठहरता है । इनकी कुंडलियाँ साधारण हैं । इन्होंने सोरठों और कुछ दोहों पर 'छंद-अवरोध' कहकर कुंडलियाँ नहीं बाँधीं । नमूने के लिए इनकी भी रचना देख लीजिए—

पाय्यौ सोरु सुहाग कौ इनु विनु हीं पिय-नेह ।
 उनदौहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह ॥
 कै अलसौंहीं देह खिसौंहीं सी कै ठाढ़ी ।
 प्रीति जनावति अधिक रीति रति की जो गाढ़ी ॥
 गाढ़ी करि अँग आँगि घाघरी घनो विगाय्यौ ।
 हाय्यौ हियौ दिखाइ अनोखो आनँद पाय्यौ ॥

एक कुंडलिया बाँधनेवाले ईश्वरीप्रसाद कायस्थ हैं, पर उनका ग्रंथ ही नहीं मिलता । चौथे व्यक्ति प्रसिद्ध अंबिकादत्त व्यास हैं । इन्होंने दोहों पर कुंडलियाँ बाँधकर 'बिहारी-बिहार' नाम से छपवाया है । इसमें प्रत्येक दोहे पर कहीं तो एक और कहीं एक से अधिक कुंडलियाँ लगाई गई हैं । इनकी कविता अच्छी और पांडित्यपूर्ण है । पर छंदों के साँचे में शब्दों को ढालने का इनका प्रकार उतना अच्छा नहीं था । व्यासजी ने ग्रंथ में एक लंबी भूमिका भी दी है । इसमें 'उपोद्धात' शीर्षक में तो कवि की आलोचना है, फिर उसके बाद बिहारी के समय और वंश के विवाद को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है । तत्पश्चात् बिहारी-सतसई के दोहों के विभिन्न क्रमों पर विचार किया गया

है और अंत में सतसई के व्याख्याकारों का संहितित विवरण दिया गया है। तात्पर्य यह कि आपने बिहारी-संबंधी-साहित्य के लिए परिश्रम करके पर्याप्त सामग्री एकत्र कर दी है। व्याख्याकारों का आपने यथाप्राप्त चरित्र भी विस्तार से दिया है। पुस्तक के पीछे कठिन शब्दों की विवृति दी गई है और दस प्रसिद्ध टीकाओं की क्रम-संख्या अकारादि क्रम के अनुसार जोड़ी गई है। आपने अपना वृत्तांत भी जोड़ दिया है। उदाहरण के लिए एक दोहे पर इनकी कुंडलियाँ दी जाती हैं—

कित्ती न गोकुल कुलबधू काहि न किहिं सिख दीन ।
 कौने तजौ न कुल-गली ह्वै मुरली-सुर-लीन ॥
 लीन भई क्यों भरी नवेली नारि छबीली ।
 चारि दिना तैं आइ भई एती गरबीली ॥
 कान आँगुरी देइ भागु ह्वै पुनि आकुल ।
 सुकवि देखु बिललात गोपिका कित्ती न गोकुल ॥

(२)

ह्वै मुरली-सुर-लीन लखहु पसु-पंछी मोहत ।
 सुरी किन्नरी आदि टकटकी बाँधे जोहत ॥
 मंत्र बसीकर फूँकि करत हरि सबको आकुल ।
 सुकवि भटकती फिरत गोपिका कित्ती न गोकुल ॥

बिहारी के दोहों का विस्तार कुंडलियाँ में करनेवाले एक पढ़ने की सिख-संगत के महंत साहबजादे बाबा सुमेरसिंह भी हैं। ये भी उसी समय के लगभग कुंडलियाँ लिख रहे थे, जिस समय व्यासजी। व्यासजी के समय में इनका ग्रंथ पूरा नहीं हुआ था, पर पीछे रत्नाकरजी के कथनानुसार पूरा हो गया।

ये कोई बड़े काव्य-पंडित तो थे नहीं, इसलिए इनकी कविता उतनी कौशलपूर्ण नहीं है, पर सरस और मन को लुभानेवाली अवश्य है। नीचे एक छंद नमूने के तौर पर दिया जाता है—

सीस मुकुट कटि काटिनी कर मुरली उर माल ।
 एहि वनिक मो मन बसहु सदा बिहारी लाल ॥
 सदा बिहारी लाल करहु चरनन को चरो ।
 तुहि तज अनत न जाइ कतहुँ प्रियतम मन मेरो ॥
 मेरो तेरो मिटै मिलै तस संगत ईस ।
 बिहरहुँ है उनमत्त धार ब्रजरज निज सीस ॥

भारतेंदु बाबू और श्री पंडा जोखूराम की कुंडलियाँ भी बिहारी-बिहार में दी गई हैं। पर इन्होंने कुछ ही दोहों पर कुंडलियाँ लगाई थीं, उन्हें पूरा न कर सके। भारतेंदु बाबू की कुंडलियाँ कैसी बनी हैं यह कहने की आवश्यकता नहीं। जोखूराम ने पठान की कुंडलियाँ सुनकर कहा था कि मैं इससे उत्तम बना सकता हूँ। भारतेंदु बाबू ने एक रुपया प्रति कुंडलिया देने का वचन दिया, पर ये जो दो-चार कुंडलियाँ बना लाए वे किसी को जँचीं नहीं। इसलिए फिर इन्होंने मौन-साधन किया। भारतेंदु बाबू की एक कुंडलिया नीचे दी जाती है—

मोहन मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जोइ ।
 बसत सुचित-अंतर तऊ प्रतिबिंबित जग होइ ॥
 प्रतिबिंबित जग होइ कृष्ण-मय ही सब सूझै ।
 इक संयोग बियोग भेद कछु प्रगट न बूझै ॥
 श्री हरिचंद न रहत फेर बाकी कछु जोहन ।
 होत नैन मन एक जगत दरसत जब मोहन ॥

अब कवित्त-सवैयाँ वाली टीकाओं का विवरण सुनिए । इस प्रकार की सबसे पहली टीका कृष्ण कवि की है, जिन्होंने संवत् १७८२ में यह ग्रंथ समाप्त किया था । दोहों का अर्थ खोलने के लिये यथावसर कवित्त या सवैया दोनों का व्यवहार हुआ है । कुछ लोगों ने इन्हें भ्रमवश बिहारी का पुत्र मान लिया है । टीका में केवल कवित्त-सवैया ही नहीं हैं । सबसे पहले इन्होंने दोहे के अक्षरों की गणना और लघु-गुरु-संख्या भी दी है । साथ ही दोहे की जाति भी लिखी है । इसके बाद गद्य में वक्ता-बोधव्य और नायिकाभेद दिया है । इन्होंने अलंकार एकदम नहीं दिए हैं । कहीं-कहीं इन्होंने अपने कवित्त न देकर दोहे के भाव के अन्य कवियों के कवित्त ही लिख दिए हैं । एक दोहे का सवैया नमूने के लिए नीचे दिया जाता है—

राति घौस हौसै रहै मान न ठिक ठहराइ ।

जेतौ औगुन हूँदियै गुनै हाथ परि जाइ ॥

जौ हौं झकौं तौ खरो ही लटू द्वे करै मनुहार अनूठी अनूठी ।

औगुन हूँदेहूँ हाथ न आवत सौगुन की रहै सिद्ध सी दूठी ॥

सील सुभाव सदा निबहै हँसि बोले अमी-बरपा मनु बूढ़ी ।

हौंस हिये निसिघौस रहै मनमोहन सों कबहूँ नहिं रूठी ॥

इसी ढंग की दूसरी टीका श्रीजानकीप्रसादजी की है । ये अयोध्या के कनक-भवन स्थान के महंत के शिष्य थे । संवत् १९२७ में इसकी रचना हुई । कविता में ये अपना उपनाम 'रसिक-बिहारी' या 'रसिकेश' रखते थे । 'रसिक-बिहारी' नाम कवित्तों में और 'रसिकेश' सवैयाँ में प्रयुक्त करते थे । दोहों का अर्थ इसमें भी यथावसर दोनों ही छंदों (कवित्त एवं सवैया) में

दिया गया है। कृष्ण कवि भी कविता जैसी सरस है वैसी इनकी कविता नहीं हुई है। इनकी टीका का नाम रसकौमुदी है। इन्होंने केवल दोहे को कवित्त या सवैया में परिणत कर दिया है, और कुछ नहीं लिखा है। बानगी के लिए एक कवित्त देखिए—

सुनत पथिक मुँह माह-निसि लुवैं चलति उहिं गाम ।
 बिनु बूझैं बिनु हीं कहैं जियति बिचारी वाम ॥
 बीते बहु धौस प्रान-प्यारी की न पाई सुधि ,
 दर्ई वह रेहै किमि अति सुकुमारी है ।
 सोचत हिये मैं छैल बिबस बिदेस माहिं ,
 मो मैं प्रान वाकौ प्रिय प्रान हूँ तैं प्यारी है ॥
 ता छन बटोही कोऊ चरचा चलाई कछु ,
 'रसिक-बिहारी' भयौ अधिक सुखारी है ।
 सुनी उहिं गाम माँहिं निसि मैं चलत लूह ,
 सुने बिन बूझे वाम जियति बिचारी है ॥

दोहों पर सवैया लगानेवाले ईश्वर कवि नाम के एक सज्जन और हैं। टीका का समय संवत् १९६१ है। सवैया में केवल भाव ही पलवित कर दिए गए हैं। दो-चार पर संचित टिप्पणी भी दी गई है। सवैया यों तो अच्छे हैं, पर कृष्ण कवि की सी मधुरता उनमें कहाँ ! एक उदाहरण लीजिए—

पाज्यौ सोरु सुहाग कौ इन बिनुहीं पिय-नेह ।
 उनदौहीं अँखियाँ ककै के अलसौंहीं देह ॥
 देखि कै आवत बालबधू बतरानी सबै करि आप सनेह है ।
 ईस्वर देखौ करै मिस कैसे हरै मन माहत यों नभ मेह है ॥
 पीतम ही बिन पाज्यौ सुहाग कौ यानै अरी अव ही करि नेह है ।
 कीनी उनींदी भली अँखियाँ अरु सौं हें करी अलसौंहीं सी देह है ॥

यहाँ तक हिंदी भाषा में पद्यांतर करनेवालों का विवरण दिया गया है । अब अन्य भाषाओं में पद्यांतर करनेवालों का भी संक्षिप्त विवरण सुनिए । संस्कृत में इसके पद्य में दो भाषांतर हुए हैं; एक का नाम है आर्यागुफ और दूसरे का नाम है शृंगार-सप्तशती । आर्यागुफ की रचना काशिराज चेतसिंह के दरबारी पंडित और प्रधान कवि श्री हरिप्रसाद जी ने सं० १८३७ में की थी । इसमें केवल पद्यांतर ही किया गया है, कोई टीका नहीं है । शृंगार-सप्तशती में पद्यांतर के साथ-साथ संस्कृत में ही विस्तृत टीका भी है । यह टीका सं० १९२५ में पं० परमानंद भट्ट ने की थी और उसे भारतेन्दु बाबू और उनके मित्र रघुनाथ पंडित के प्रीत्यर्थ बनाकर उन्हें ही समर्पित किया था । इसमें विशेषता यह है कि संस्कृत का पद्यांतर भी दोहों में ही है । दोनों में से एक एक उदाहरण दिए जाते हैं—

आर्यागुफ—

नीकी दई अनाकनी फीकी परी गुहारि ।

तज्यौ मनौ तारन विरद बारक बारन तारि ॥

दत्तमनकर्णनमिह सम्यगथाभूद्वृथा ममाह्वानम् ।

मन्ये तारणविरुदस्यक्तो द्विरदं समुत्ताय्य ॥

शृंगार-सप्तशती में 'सीस मुकुट कटि काढ़नी' का संस्कृत दोहा यह है—

मस्तकमण्डितमुकुटवर हृदयलसितवनमाल ।

मम हृदये वस कटिरसन मुरलीधर गोपाल ॥

मुंशी देवीप्रसाद जी 'प्रीतम' ने उर्दू में 'गुलदस्तए बिहारी' नाम से दोहों को शेरों में ढाला है । शेरों में अनुवाद बहुत

सुंदर हुआ है, इसमें संदेह नहीं। एक दोहे को एक ही शेर में उसी चुस्ती के साथ ढाल लेना बिना सभी महारत और इल्म के हो नहीं सकता। यह पुस्तक सं० १९८१ में प्रकाशित हुई है। नमूने के लिए एक शेर पेश करता हूँ—

गोधन तू हरण्यो हिये घरियक लेहि पुजाइ ।

समुझि परैगी सीस पर परत पसुनि के पाइ ॥

पुजा ले दो घड़ी गोधन खुशी से अब तो दिन आए ।

मजा चक्खेगा जब रक्खेंगे सरपर पाँव चौपाए ॥

बिहारी की कुछ टीकाएँ ऐसी भी हुईं जिनमें केवल दिमाग का जौहर दिखलाया गया है। सुना जाता है कि छोटूराम नाम के एक व्यक्ति ने बिहारी के दोहों का अर्थ वैद्यक पर घटाया था। पर इसका नाम ही नाम सुना जाता है, कोई पता या नमूना कहीं नहीं मिलता। इधर स्वर्गीय लाला भगवानदीनजी ने 'शांत-बिहारी' नाम से दोहों का अर्थ अपनी संपादित 'श्रोविद्या' में निकाला था, पर आगे चलकर उन्होंने यह विचार छोड़ ही दिया। नमूने के लिए एक दोहे का अर्थ दिया जाता है—

• कन देबो सौँप्यौ ससुर बहू थुरहथी जानि ।

रूप-रहँचटे लगि लग्यो माँगन सब जग आनि ॥

शब्दार्थ—स-सुरबहू = देवांगना-सहित, लक्ष्मी तक। थुरहथी = छोटे हाथवाला, कृपण, कंजूस। जानि = ज्ञानी (व्यंग्य से मूर्ख)। मा-गन = लक्ष्मी का ढेर। रूप = रुपये।

भावार्थ—(कोई सत्योपदेशक किसी कंजूस प्रति कहता है—) हे छोटे हाथवाले ज्ञानी (अर्थात् मूर्ख कंजूस) ईश्वर ने तुझे धन, यहाँ तक कि स्वयं लक्ष्मी ही इसलिए सौंपी है कि तू सबको भिक्षा दे, परंतु

[तू तो रुपये के लालच में पड़कर ऐसा बिगड़ा कि सारे संसार से ला ला कर लक्ष्मी का ढेर लगाने लगा (यह उचित नहीं) ।

यहाँ तक तो टीकाओं का संचित उल्लेख हुआ । अब संक्षेप में ही विहारी-सतसई के प्रमुख क्रमों का भी उल्लेख किया जाता है । सतसई की आलोचना में इन क्रमों का प्रायः उल्लेख हुआ करता है, इसलिए इनका परिचय प्राप्त करना भी आवश्यक है । विहारी-सतसई में दोहों का कोई क्रम नहीं था इसका उल्लेख तो विभिन्न टीकाओं और क्रम बाँधनेवालों की भूमिका से ही चल जाता है—

किए सात सै दोहरा सुकवि बिहारीदास ।

बिनुहिं अनुक्रम ए भए महि-मंडल सु-प्रकास ॥

—कोविद कवि ।

जद्यपि है सोभा सहज मुक्तनि तऊ सु देखि ।

गुहैं ठौर की ठौर तैं लर मैं होति बिसेखि ॥

—पुरुषोत्तमदास ।

जद्यपि है सोभा घनी मुक्ताफल मैं देखि ।

गुहैं ठौर की ठौर तैं लर मैं होति बिसेखि ॥

—आजमशाही क्रम ।

बीते काल अपार तैं भए व्यतिक्रम देखि ।

करे अनुक्रम फेरि तैं प्रोहित प्रेम बिसेखि ॥

—प्रेम पुरोहित ।

यों तो विहारी-सतसई के १३-१४ क्रमों का पता चलता है, पर उनमें से प्रमुख और महत्वपूर्ण क्रम ५-६ ही हैं । सबसे पहला वह क्रम है जिसका अनुगमन 'विहारो-रत्नाकर' में किया गया है । यह विहारी का निज क्रम कहा जाता है । इस क्रम का निश्चय कई बहुत प्राचीन पोथियों के आधार पर किया गया है ।

इस क्रम की स्पष्ट विशेषता यह है कि इसमें दस-दस दोहों के अनंतर एक दोहा नीति-संबंधी या ईश्वर-विनय का रखा गया है। बीच के दोहों में और कोई विशेष क्रम नहीं है। कहा जाता है कि जिस क्रम से बिहारी-सतसई के दोहों का निर्माण हुआ है उसी अनुक्रम से दोहे इस क्रम में पाए जाते हैं। इस क्रम पर कृष्णलाल की गद्य टीका, मानसिंह विजयगछवाले की टीका, फारसीवाली टीका और बिहारी-रत्नाकर हैं।

दूसरों के द्वारा बाँधे गए क्रम में यद्यपि सबसे पहले कोविद कवि का क्रम है (सं० १७४२) जिसमें विषय-क्रम के अनुसार पुराना क्रम तोड़ दिया गया है, तथापि यह कोई महत्वपूर्ण और अच्छा साहित्यिक क्रम नहीं है। प्रसिद्ध क्रमों में सबसे पहला पुरुषोत्तमदास का बाँधा हुआ क्रम हो है। इसको चर्चा हरिप्रकाश टीका में की गई है—“पुरुषोत्तमदास जी को बाँध्यौ क्रम है ताके अनुसार टीका।” इस क्रम का समय सं० १७४५ के आस-पास है। इस क्रम की विशेषता यह है कि पहले नायिकाभेद और नख-शिख के क्रम से दोहे रखे गए हैं और अंत में नीति एवं भक्ति के दोहे संगृहीत हुए हैं। इसी क्रम पर अमर-चंद्रिका, हरिप्रकाश टीका, जुलफिकार खाँ की कुंडलिया, बिहारी-बोधिता और गुलदस्तए बिहारी हैं।

सबसे अच्छा क्रम अनवर-चंद्रिका का है (सं० १७७१)। यह क्रम रस-निरूपण के अनुसार रखा गया है। इसमें सोलह प्रकाश हैं, पर पहले प्रकाश में कवि ने अपने प्रभु के वंश का वर्णन किया है। तेरह प्रकाश तक नख-शिख, नायिकाभेद, वियोग-दशा, सात्त्विक एवं हावादि के दोहे हैं और अंत में नव-

रस, षट्श्रुतु और अन्योक्ति के दोहे रखे गए हैं। इस क्रम पर साहित्य-चंद्रिका, प्रताप-चंद्रिका और रणछोड़जी दीवान की टीकाएँ हैं।

इसके बाद सबसे प्रसिद्ध क्रम का समय आता है (सं० १७८१)। इसका नाम आजमशाही क्रम है। बहुत-से लोग भ्रमवश यह समझने लगे हैं कि यह क्रम दिल्ली के बादशाह आजमशाह ने बँधवाया था। पर वस्तुतः यह क्रम आजमगढ़ के तत्कालीन अधिकारी आजम खॉ के अनुरोध से जौनपुर के हरिजू नाम के किसी कवि ने लगाया था। इस क्रम का नाम 'आजम-शाही' ही धोखे की दृष्टि है, वस्तुतः इसका नाम 'आजमखानी' होना चाहिए। इस भ्रम का प्रचार 'लालचंद्रिका' के कारण हुआ है। यह क्रम भी नायिका-भेद को ही लेकर चला है। इस क्रम का ग्रहण लाल-चंद्रिका, भावार्थ-प्रकाशिका, बिहारी-बिहार, संजीवन-भाष्य और शृंगार-सप्तशती में किया गया है।

कृष्णदत्तवाली कवित्त-बंध टीका का भी एक क्रम है। यह क्रम भी विषय के अनुसार ही है, पर कोई विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं। इस क्रम पर प्रभुदयाल पाँडे की और गुजराती टीका भी हैं। इसवी खॉ ने अपना क्रम सबसे निराला रखा है। उन्होंने दोहों को अकारादि क्रम से ही रख दिया है। संभव है कि इन क्रमों के अतिरिक्त भी और क्रम हों, पर जो टीकाएँ मिलती ही नहीं हैं उनके संबंध में कुछ कहा नहीं जा सकता।

टीकाओं के अतिरिक्त बिहारी के संबंध में कुछ लेख भी हैं। यों तो बिहारी की प्रशंसा में प्राचीन टीकाकारों ने भी दो-चार दोहे लिखने का प्रयत्न किया है, जिनमें बिहारी की प्रशंसा प्राचीन

परंपरा के ढंग की की गई है। उन दोहों से यही प्रकट होता है कि बिहारी की कविता लोक में बहुत प्रसिद्ध हो चुकी थी। इधर गद्य में खड़ीबोली के गृहीत हो जाने पर जो टीकाएँ लिखी गई उनमें से अधिकांश में भूमिकाएँ दी गई हैं और बहुतों में बड़ी बड़ी भूमिकाएँ हैं। इन सबमें बिहारी की जीवनी, उनकी काव्य-प्रतिभा एवं टीकाओं आदि का उल्लेख है। इनका उल्लेख हम टीकाओं के साथ ही करते आए हैं। इसलिए फिर से उनका उल्लेख अतिप्रसंग हो जायगा। उनके अतिरिक्त और लेखों के संबंध में कुछ परिचय दे देना चाहिए। स्वर्गीय राधाचरण गोस्वामी ने 'भारतेन्दु' पत्र में एक लेख छपवाया था जिसमें बिहारी की प्रशंसा के अतिरिक्त उनकी जाति आदि का भी निर्णय करने का प्रयत्न किया गया था। पं० महेशदत्तजी ने भाषा-काव्यसंग्रह में बिहारी को कान्यकुब्ज ब्राह्मण लिखा। इसके अनंतर बा० राधा-कृष्णदासजी ने एक निबंध लिखा जिसमें प्रसिद्ध कवि केशव और बिहारी की कविता का मिलान करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया कि बिहारी उनके पुत्र थे।

बिहारी के संबंध में सबसे अधिक चर्चा और विवाद उस समय से आरंभ हुआ जब मिश्रबंधु महोदयों ने अपना 'हिंदी-नवरत्न' प्रकाशित किया। इस पुस्तक में एक किसी पुराने कवित्त के आधार पर कवि देवदत्त को बिहारी से पहले स्थान दिया गया। यह बात बहुत से लोगों को खटकी। श्री पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने 'सरस्वती' में इस ग्रंथ की कड़ी टीका की और 'नवरत्न' में गृहीत 'मान-दंड' को अनुचित बतलाया। इधर पं० पद्मसिंह जी शर्मा ने 'सतसई-संहार' के नाम से एक लेख पं० ज्वाला

प्रसाद मिश्र की 'भावार्थ-प्रकाशिका' टीका की आलोचना में 'सर-स्वती' में ही छपवाया। फिर उन्होंने संजीवन-भाष्य लिखना आरंभ कर दिया। जिसकी भूमिका के रूप में पहला खंड प्रकाशित किया गया। इसमें संस्कृत, प्राकृत, हिंदी, उर्दू के कवियों की रचना से बिहारी की कविता की तुलना करके यह दिखाया गया है कि बिहारी ने जो कुछ कहा वह सबसे बढ़कर है। 'हिंदी-नवरत्न' में बिहारी की कविता में कुछ दोष भी दिखाए गए थे, उनका भी इसमें निराकरण किया गया। यह पुस्तक लिखकर शर्माजी ने हिंदी में तुलनात्मक समालोचना का आरंभ किया। कहीं शर्माजी बिहारी की देव के साथ तुलना करना भूल गए। इतने बड़े कवि के साथ बिहारी की तुलना न की जाय, यह अवश्य उस कवि के संबंध में उपेक्षाभाव बतलाता है। बस, फिर क्या था। श्री पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नामक एक पुस्तक प्रकाशित करवाई। इस पुस्तक में इन दोनों कवियों की कविताओं का अलग-अलग विवेचन किया गया। इसके लिखने का तात्पर्य यही था कि देव बिहारी से अच्छे कवि हैं। यह बात पुस्तक के नाम से ही लक्षित करा दी गई है। स्वर्गीय लाला भगवानदीनजी को यह बहुत बुरा मालूम हुआ। उन्होंने जबलपुर की 'श्रीशारदा' नामक पत्रिका में इस पुस्तक को और साथ ही हिंदी-नवरत्न में बिहारी के संबंध में प्रकट किए गए विचारों की बहुत खूबी और कड़वी भाषा में आलोचना की। इसी आलोचना को उन्होंने 'बिहारी और देव' के नाम से अलग पुस्तकाकार भी छपवा दिया। लालाजी के इस मैदान में आ जाने से बिहारी और देव को लेकर कुछ दिनों तक खूब लिखा-पढ़ी

होती रही। अंत में दोनों पक्ष के लोग एक दूसरे को साहित्य-मर्मज्ञता परखने के लिए कुछ और आगे बढ़ गए। हिंदी के सौभाग्य से इस दलादली में और साहित्यिक नहीं कूदे। लालाजी की मृत्यु के बाद से यह शोर कम हो गया है।

बिहारी के संबंध में सबसे महत्वपूर्ण लेखमाला स्वर्गीय रत्नाकरजी ने नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में छपवाई। एक लेख में बिहारी की जीवनी पर विचार किया गया है और यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि बिहारी यदि प्रसिद्ध कवि केशवदास के पुत्र नहीं, तो कमसे-कम शिष्य तो अवश्य थे। उनके विचार से बिहारी उनके पुत्र हो सकते हैं, पर किसी ऐतिहासिक प्रमाण का आधार न मिलने से उन्होंने उसे वहीं छोड़ दिया है। दूसरा लेख उन्होंने बिहारी-सतसई से संबंध रखनेवाले साहित्य पर लिखा है। इस लेख में बड़े विस्तार से सतसई के टीकाकारों और टीकाओं का परिचय, उसके क्रम तथा अन्य लेखों का विवरण दिया गया है। एक लेख में उन्होंने यह भी दिखलाया है कि ब्रजभाषा का व्याकरण प्रस्तुत करने के लिए यदि बिहारी-सतसई आधार बनाई जाय तो एक अच्छा व्याकरण प्रस्तुत हो सकता है। जहाँ कमी पड़ेगी उसके लिए घनानंद से सहायता ली जा सकती है। रत्नाकरजी के ये लेख वस्तुतः उनके 'बिहारी-रत्नाकर' की भूमिका के अंग हैं। बिहारी की आलोचना के रूप में उन्होंने जो लिखा है, वह अभी तक प्रकाशित नहीं किया गया है।

इसके अतिरिक्त बिहारी पर कितने ही लेख अन्य पत्र-पत्रिकाओं में भी समय-समय पर निकलते रहे हैं, पर उनमें विशेष-रूप से उल्लेख-योग्य कोई नहीं है। अधिकांश में या तो किसी दोहे की

गुत्थी सुलझाई अथवा उलझाई गई है या मुग्ध भाव से बिहारी की गुणावली गाई गई है । 'जागरण' के एक लेख में बिहारी के 'ग्राम्य-वर्णन' पर कुछ अच्छा विचार किया गया है । यद्यपि लेखक ने बिहारी की परीक्षा कड़ाई के साथ की है, पर इसमें संदेह नहीं कि 'ग्राम्य-जीवन' के प्रति उनका अनुगम नहीं था । बिहारी की बहुत संक्षिप्त, पर प्रौढ़ एवं तात्त्विक आलोचना श्रद्धेय आचार्य पं० रामचंद्रजी शुक्ल के 'हिंदी-साहित्य के इतिहास' में मिलती है । हिंदी में बिहारी की विशेषताओं का स्वतंत्र रूप से उद्घाटन करने-वाली कोई पुस्तक नहीं निकली है ।

क

- कबीर—११, ४३ ।
 कमलनयन—२५२ ।
 कर्ण कवि—२५३ ।
 कवितावली—३२, ९२, १४६ ।
 कवित्त-बंध टीका—२७२ ।
 कादंबरी—१५७ ।
 कालिदास—२०, ८४, १५६,
 १५८, २७९ ।
 काव्यकल्पद्रुम—१०१ (टि), २३०
 (टि), २३२ (टि) ।
 काव्यनिर्णय—१९६, १६७ ।
 काव्यप्रकाश—८७ (टि), ९७ (टि) ।
 काव्यादर्श—२३६ ।
 काव्यालंकारसूत्रवृत्ति—९७ ।
 काशीनाथ—९३ ।
 कुंतल—१७३ ।
 कुंदनशाह—४४ ।
 कुमारसंभव—८४ ।
 कुलपति मिश्र—१ (टि), २ (टि) ।
 कुशलविलास—१३ ।
 कृपाराम—५९ ।
 कृष्ण कवि (कृष्णदत्त)—२५१,
 २५७, २६६, २६७, २७२ ।
 कृष्णगीतावली—३२, २१८ ।
 कृष्णबिहारी मिश्र—२७४ ।

कृष्णलाल—६ (टि), ९ (टि),
 २५१, २५६, २७१ ।

केशवदास (केशव)—१ (टि),
 २, १५, १९, २२, २४, ३८, ९३
 ९८, ११०, ११२, ११३, १३५,
 १८७, २०१, २०२, २५३, २५४,
 २७३, २७५ ।

केशवराय—१, ३ (टि) ।

केसौराय—१ (टि) ।

कोविद कवि—२७०, २७१ ।

ग

- गंग—४ (टि), १९७ ।
 गंगावतरण—२१४, २४८ ।
 गदाधर—२५७ ।
 गवर्नमेंट प्रेस—२५७ ।
 गाथासप्तशती—२०, २१, २२,
 ५१, ५२, ५३, ५४, १६५ (टि) ।
 गीता—१६ ।
 गीतावली—३२, ३३ ।
 गुजराती टीका—२७२ ।
 गुलदस्तए बिहारी—२६८, २७१ ।
 ग्यारहसई—९२, २३८ ।
 प्रियर्सन साहब (डाक्टर)—१
 (टि), २५६, २५७, २८०, २८१ ।
 घ
 घनानंद—२८, ३७, ४५, १५५,

१६१, २१५, २२७, २४९, २५५,
२७५ ।

च

चंद्र कवि—२६२ ।
चंद्रधर शर्मा गुलेरी—२१ (टि) ।
चंद्रशेखर वाजपेयी—२५५ ।
चंद्रालोक—९७ ।
चेतसिंह—२६८ ।

छ

छत्रसाल-दशक—१६८ ।
छोटाराम—२६९ ।

ज

जगतसिंह—२५५ ।
जगद्विनोद—२४६ ।
जगन्नाथदास—देखो 'रत्नाकर' ।
जगन्नाथ पंडितराज—६५ ।
जयदेव—१२ ।
जयसिंह (जयशाह)—४, ६,
११५, १७८ ।
जहाँगीर—४, ११ ।
जागरण—७५ (टि) ।
जातकसंग्रह—९४ (टि) ।
जानकीप्रसाद—२६६ ।
जायसी—२८, ४२, १८७ ।
जुलफिकार अली (खाँ)—
२६३, २७१ ।

जोखूराम पंडा—२६१ ।

ज्वालाप्रसाद मिश्र—२५७, २।

ठ

ठाकुर—२८, ३७, ४५, १५५,
२४९ ।

त

तिलशतक—९२ ।
तुलसीदास (तुलसी)—११, २६,
३२, ३३, ५१, ५२, ५९, ६०,
८५, ८८, ९२, १, १४६,
१५४, १६९, १७०, १७२, १७६,
१९७, २०१, २३४, २३६,
२३९ ।

तुलसी-सतसई—५१ ।

द

दंडी—९८
दास (भिखारीदास)—१९६,
१९७, २०२, २०९ ।
देव (देवदत्त)—१३, २१८,
२७३, २७४ ।
देव और बिहारी—२७४ ।
देवकीनंदन कवि—५२ ।
देवकीनंदन टीका—२५५, २६० ।
देवकीनंदनसिंह—२५५ ।
देवीप्रसाद (प्रीतम)—२६८ ।
दोहावली—३० ।

नैवे—२०९ ।

न

नशोभा—६० ।

नतिजयचर्या—९५ (टि) ।

नरहरिदास—२, ३, ३ (टि) ।

नवलकिशोर प्रेस—२५७ ।

नागरीदास—४४ ।

नागरी-प्रचारिणी पत्रिका—१ (टि),

२ (टि), ३ (टि), ७ (टि), २१

(टि), ५६, ५७, २७५ ।

नाटक—१२, १२३ ।

नारायण कृती (कविराज विश्वनाथ
के वृद्धप्रपितामह)—१३४, १३५ ।

नासिक—१६१ (टि) ।

निजमतसिद्धांत—२ (टि) ।

निरंजन—६, ७ (टि) ।

निर्गुण संप्रदाय—४२ ।

नूरजहाँ—४ ।

नौसई—५२, २३८ ।

प

पठान सुलतान—२६२ ।

पद्मसिंह शर्मा—१०३ (टि), १८८

२३६, २४१, २५७, २५८, २७३ ।

पद्माकर—१०४, १३२, १५९ (टि),

२०९, २२७, २४५, २४६, २४७,

२५५, २५७ ।

परमानंद भट्ट—२६८ ।

परशुराम मिश्र—३ (टि) ।

पुरानी हिंदी—२१ (टि) ।

पुरुषोत्तमदास—२७०, २७१ ।

पृथ्वीराजरासो—१९६ ।

प्रताप (महाराणा)—१० ।

प्रतापचंद्रिका—२५५, २७२ ।

प्रतापविजय—२५२ ।

प्रतापसिंह—२५५ ।

प्रभुदयाल पांडे—२५७, २७२ ।

प्रेमपुरोहित—२७० ।

प्रेमवाटिका—४४ ।

फ

फारसी टीका—२७२ ।

ब

बंगवासी (आफिस)—२५७ ।

बरवै नायिकाभेद—६० ।

बरिबंडसिंह—२५४ ।

बिहारी और देव—२७४ ।

बिहारी-बिहार—१ (टि), १०३ (टि),

२६०, २६१, २६३, २६५, २७२ ।

बिहारी-बोधिनी—७१ (टि), १८८,

२५८, २७१ ।

बिहारी-रत्नाकर—१०३ (टि),

१८८, १९९, २०६, २१९, २५९,

२७०, २७१ ।

बिहारी-सतसई की भूमिका—१०३,
२३६, २४१ ।

भ

भगवानदीन (लाला)—२३९,
२५८, २७४, २७५ ।

भर्तृहरि—२८१ ।

भवभूति—१३४, १३५, १५८ ।

भवानी-विलास—१३ ।

भागवत—१६ ।

भारतजीवन प्रेस—२५४ ।

भारतेंदु (पत्र)—२७३ ।

भारतेंदु बाबू (हरिश्चंद्र)—२३९,
२४७, २६५, २६८ ।

भावार्थप्रकाशिका (गुजराती)—
२६१ ।

भावार्थप्रकाशिका (हिंदी)—
२५७, २७२, २७४ ।

भाषा-काव्यसंग्रह—२७३ ।

भाषा-भूषण—२५६ ।

भिखारीदास (दास)—देखो 'दास' ।

भूषण—१६, १६७, २१८ ।

म

मतिराम—२०९, २२७, २४१,
२४२, २४३, ।

मतिराम-सतसई—५१, २३८,
२४१, २४२ ।

मत्स्यपुराण—११३ (टि) ।

मनीराम—२५५ ।

मनोरंजनप्रसाद सिंह—७५ (टि) ।

मम्मट (आचार्य)—८७ ।

मल्लिनाथ—२७९ ।

महावीरप्रसाद द्विवेदी—२७३ ।

मान कवि या मानसिंह—२५२,
२७१ ।

मालती-माधव—१५८ ।

मिश्रबन्धु—१ (टि), २७३ ।

मीराबाई—४३ ।

मीरा-मंदाकिनी—४३ ।

मुबारक—९२ ।

मेघदूत—१५६ ।

य

याज्ञिक महोदय—६० ।

र

रघुनाथ पंडित—२६८ ।

रघुनाथ बंजीजन—२५४ ।

रघुवंश—२० (टि) ।

रणछोड़ जी (दीवान)—२५५,
२५६, २७२ ।

रतनहजारा—२७, ५२, २३८,
२४४, २४५ ।

रत्नाकर (जगन्नाथदास)—२ (टि),
७ (टि), ९ (टि), ४९, १३२,

- २०३, २१४, २२३, २२७, २४५, २४६, २४७, २४८, २४९, २५१, २५५, २५७, २५९, २६२, २६४, २७५ ।
- रसकुसुमाकर—१२५ (टि) ।
- रसकौमुदी—२६७ ।
- रसखान—२८, ३७, ४४, ४५ ।
- सचंद्रिका—२५४ ।
- रसतरंगिणी—१९ (टि), १८० ।
- सनिधि—४५, २४५ ।
- रसमंजरी—१२ (टि) ।
- रसरज—२४२ ।
- रलीन—२६, २७, २४५, २४६ ।
- रकबिहारी—२६६ ।
- रकप्रिया—१९, २४, २५४ ।
- रकेश—२६६ ।
- रम (खानखाना)—४, ४४, ०, ५९, ६०, ६१, ८३, ८४ ।
- रम-दोहावली—५९ (टि), ६०, ७९ ।
- रखावली—४४, ६० ।
- रलास—२५२ ।
- रेखर—५२ ।
- रुह—२५२ ।
- रुधाकृष्णदास—२७३ ।
- रुधाचरण गोस्वामी—१ (टि), २७३ ।
- रामकृष्ण (परमहंस)—१४१ ।
- रामचंद्र शुक्ल—३८ (टि), १८०, १७६ ।
- रामचरितमानस—१२ (टि), १६, ३०, ३३, २११, २३५, २३९, २५७ ।
- रामसतसई—५१ ।
- रामसिंह (कुमार)—५ ।
- ल
- ललितललाम—२४२ ।
- लल्लूलाल—२५६ ।
- लाइट प्रेस—२५६ ।
- लाल—२५१ ।
- लालचंद्रिका—१ (टि), ५६, ७० (टि), २५१, २५६, २५७, २७२, २८० ।
- ल
- लिकटनितंबा—५४ (टि) ।
- लिक्रमसतसई—५१, २३८, २४४ ।
- लिक्रमांकदेवचरित—४६ (टि) ।
- लिक्रमोर्वशीय—१५८ ।
- लिज्ञानगीता—३ (टि) ।
- लिद्यापति—१२ ।
- लिनयपत्रिका—१७० ।
- लिश्वनाथ कविराज—१३४ ।
- लुंद—८५ ।
- लेदव्यास—९९ ।

श

- शकुंतला (नाटक)—१५८ ।
 शान्त-बिहारी—२५९ ।
 ग्राहजहाँ—३, ४, ११ ।
 शिवराज-भूषण—१६८ ।
 शिवसिंह-सरोज—२६२ ।
 शिवाजी—११५ ।
 शिवा-बावनी—१६८ ।
 शीघ्रबोध—९३ ।
 शुभकरण—२५२ ।
 शृंगार-सतसई—५१, २३८, २४३,
 २४४ ।
 शृंगार-सप्तशती—२६८, २७२ ।
 शृंगार-सोरठ—६० ।
 श्रीविद्या—२६९ ।
 श्रीशारदा—२७४ ।

स

- संग्राम-सार—३ (टि) ।
 संजीवन-भाष्य—१८८, २५८,
 २७२, २७४ ।
 संस्कृत प्रेस—२५६ ।
 सतसई-संहार—२७३ ।
 सतसैया-वर्णार्थ (टीका)—२५५ ।
 सफरंगे सतसई—२६१ ।
 सभाप्रकाश—२५४ ।
 सरदार कवि—२५७ ।

सरसदेव—२ ।

- सरस्वती—२५७, २७३, २७४ ।
 सरस्वतीकंठाभरण—२१ (टि) ।
 सवितानारायण कवि—२६१ ।
 साहित्य-चंद्रिका—२५२, २७२ ।
 साहित्यदर्पण—२९ (टि), १२
 (टि), १२४ (टि), १२६ (टि)
 साहित्य-परिचय—२५७ ।
 सिंहासन-वत्तीसी—२५६ ।
 सुमेरसिंह (बाबा)—२६४ ।
 सूफी कवि—११, ४१ ।
 सूरति मिश्र—२५३ ।
 सूरदास—१२, ३२, ३८, ११९
 १३८, १४८, १६९, १०२ ।
 सूरसागर—३२, १४८ ।

ह

- हम्मीरहठ—२५५ ।
 हरिचरणदास—२५४ ।
 हरिजू—२७२ ।
 हरिप्रकाश—२५४, २५६, २७१
 हरिप्रसाद—२६८ ।
 हिंदी-नवरत्न—२१८, २७३, २७४
 हिंदी-साहित्य का इतिहास—
 २१९ (टि), २७६ ।
 हिततरंगिणी—५९, ६१ ।
 हेमचंद्र—२०, ५२, ५५, २२१

